TIGHT BINDING BOOK

TEXT PROBLEM WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182603

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

No. H 81.08 Accession No. P.G.H 3559

or C49K

चतुर्वेदी श्रीनारायण

This book should be returned on or before the date
narked below.

OUP—68—11-1-68—2,000.

संयुक्त प्रान्त शिक्षाविभाग द्वारा संचालित कोविद परीक्षा के लिए

संपादक

रायबहादुर पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी

प्रथम संस्करण] १९४६ ई० [मूल्य २।=)

प्रकाशक—
पुस्तक-भवन
बनारस।

Copy Right to Government.

मुद्रक
श्रीनाथदास अग्रवाल,
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस
८४८-१२-४५

विषय-सूची

खड़ी बोली खंड

संख्या	पृ०
१—श्रीधर पाठक	१
२—महावीर प्रसाद द्विवेदी	१२
३—अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	२६
४—मैथिलीशरण गुप्त	३८
५—जयशंकर 'प्रसाद'	५०
६—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	६०
७—सुमित्रानन्दन पन्त	८३
८—जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'	९३
९—माखनलाल चतुर्वेदी	१०४
१०—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	१११
११—भगवतीचरण वर्मा	१२४
१२—सोहनलाल द्विवेदी	१२७
१३—श्यामनारायण पांडेय	१४२

ब्रजभाषा-खंड

१—भारतेंदु हरिश्चंद्र	१
२—राजा लक्ष्मण सिंह	३
३—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'	५
४—सत्यनारायण कविरत्न	८
५—जगन्नाथ दास 'रत्नाकर'	१७
६—रामप्रसाद त्रिपाठी	२१
७—रामशंकर शुक्ल 'रसाल'	२५
८—हरदयालु सिंह	२९
९—पं० रामचंद्र शुक्ल	५६

परिशिष्ट

१—श्रीधर पाठक	१
२—महावीर प्रसाद द्विवेदी	४
३—अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	८
४—मैथिली शरण गुप्त	१
५—जयशंकर 'प्रसाद'	१५
६—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	१
७—सुमित्रानन्दन पन्त	२
८—जगदम्बा प्रसाद मिश्र 'हितैषी'	२५
९—माखनलाल चतुर्वेदी	२
१०—बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	२
११—भगवती चरण वर्मा	३
१२—सोहनलाल द्विवेदी	३२
१३—श्यामनारायण पांडेय	३५
१४—भारतेंदु हरिश्चंद्र	३७
१५—राजा लक्ष्मण सिंह	४०
१६—राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'	४२
१७—सत्यनारायण कविरत्न	४
१८—जगन्नाथदास 'रत्नाकर'	४
१९—रामप्रसाद त्रिपाठी	५
२०—रामशंकर 'रसाल'	५
२१—हरदयालु सिंह	५
२२—पं० रामचंद्र शुक्ल	५

श्रीधर पाठक

(एकान्तवासी योगी)

"सुनिये झाड़खंड बनवासी, दयाशील ! हे वैरागी !
करके कृपा बता दे मुझको कहाँ जलै है वह आगी ?
मैं भटका फिरता हूँ वन में, भूल गया हूँ राह
तू जो मुझे वहाँ पहुँचा दे यह गुण होय अथाह

"निपट अकेला, भ्रान्तचित्त, अति थकित, मन्दगति फिरता हूँ
विकट असीम, महा जंगल में परिभ्रमण मैं करता हूँ
ज्यों ज्यों आगे धरता हूँ पग, अन्त रहित यह देश
बढ़ता ही जाता है प्रतिपद दीर्घ विशेष विशेष"

"वहाँ न जाना पुत्र ! कहीं"—यों बोला सुनकर वैरागी
"करना नहिं विश्वास कभी, वह केवल भ्रम की है आगी
वहाँ जो दीखै है तुझको, यह उज्ज्वल अधिक प्रकाश
झूठ मूठ बहकाय करेगा निश्चय तेरा नाश

"यहाँ इसी जंगल में मेरा बना हुआ है दीन कुटीर
जहाँ सदा गृह रहित पथिक को रहै निवेदित दल, फल, नीर
यद्यपि थोड़ी ही सामग्री, नहीं प्रचुर भंडार
अर्पित होय भक्ति श्रद्धायुत, यह मेरा परिचार

"आज रात इससे परदेसी, चल कीजै विश्राम यहीं
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरी, करो ग्रहण संकोच नहीं

तृण शय्या और अल्प रसोई, पाओ स्वल्प प्रसाद
पैर पसार करो निद्रा, लो मेरा आशीर्वाद

"इस पर्वत की रम्य तटी में, मैं स्वच्छन्द विचरता हूँ
परमेश्वर की दया देखके, पशुहिंसा से डरता हूँ
गिरिवर ऊपर की हरियाली, झरना जल निर्दोष
कन्द मूल, फल, फूल, इन्हीं से करूँ क्षुधा सन्तोष

"सो हे चतुर सुजान बटोही ! चिन्ता तज तू होय मगन
व्यर्थ जगत का मोह समझके, तन मन कर भगवत् अर्पन
यह असार संसार, अपेक्षा नर को इसमें अल्प
तिस पर भी वे अल्प अपेक्षा रहें समय अति स्वल्प"

ओस बूँद ज्यों गिरे व्योम से, कोमल निर्मल सुखकारी
त्यों ये मृदुल बचन योगी के, लगे पथिक को दुखहारी
नम्र भाव से कीनी उसने, विनय समेत प्रणाम
चला साथ योगी के हर्षित, जहँ उसका विश्राम

बहुत दूर इक झाड़खंड में, गुप्त ठौर अज्ञात नितान्त
बनी पर्णशाला योगी की, साधारण अत्यन्त इकान्त
जहाँ शरण पावें संकट में, दुखिया दीन अनाथ
मान होय भूले भटके का अति श्रद्धा के साथ

नहीं बड़ा भंडार मढ़ी में, कीजे जिसकी रखवाली
द्वार एक छोटा सा तृणमय, अभय कुटी शोभाशाली
इस टट्टी में लगी चटखनी दी योगी ने खोल
दोनों जीव पधारे भीतर, जिनके चरित अमोल

दिन के श्रम से थका जिस समय, जगत चैन से सोता है
यहाँ उटज के बीच उस समय, अतिथि समादर होता है
निशा काल, अतिशय अँधियारा, छाय रहा सुनसान
झिल्ली शब्द, शृगाल रुदन वन भूमि, पड़ोस मसान

परम निपुण पंडित वैरागी झटपट आग जलाता है
सोच भरे पाहुने पथिक के मन को मुदित कराता है
तृणमय एक चटाई, उसपर दिया पथिक बैठाल
अपने लिये मूँज का आसन लिया पास ही डाल

साग पात मय मृदुल रसोई उसको शीघ्र परसता है
"कुछ संकोच न करना" कहके मुस्क्याता और हँसता है
पूर्व काल की कथा कहानी अद्भुत उसे सुनाय
मन बहलाने लगा पथिक का करके विविध उपाय

धूनी तपै, आग की ज्वाला, चंचल शिखा झलकती है
उड़ता धुआँ, शुष्क ईंधन की लकड़ी तथा चटकती है
करै मगन हो मार्जारीसुत क्रीड़ा खेल कलोल
अहो परम आनन्द सदन यह सुन्दर दृश्य अमोल !

इस समस्त परिचर्या ने नहिं दिया पथिक को कुछ आनन्द
प्रबल दुःख से था उस्का मन, व्यथित मलिन पीड़ित और मन्द
उदासीन मुख, शोक युक्त, अति पतित पलक भ्रू भाल
भू दृग दृष्टि शिथिल तन दुर्बल, ज्यों नव शुष्क मृणाल

गदगद कंठ हृदय भर आया, ली उसास उसने भारी
नेत्रों से फिर अश्रुपात की एक साथ बँध गई धारी

बहै अनर्गल अश्रु-धार यह ज्यों पावस का मेह
आर्द्र कपोल, चिबुक, वक्षस्थल, सजल हुई सब देह

चतुर, बहुज्ञ, विज्ञ, वैरागी उसकी दशा निरखता है
कोमल, मृदुल, मिष्ट वाणी से दुख का हेतु परखता है
उसी व्यथा से है परिपीड़ित, यह बनखंडी आप
देख चुका है दुःख जगत के, तथा विविध सन्ताप

"क्यों यह दुःख तुझे परदेसी !" लगा पूछने वैरागी
"किस कारण से भरा हृदय, क्या व्यथा तेरे मन को लागी ?
असौभाग्यवश छूट गया घर, मन्दिर सुख आवास
जिसके मिलने की तुझको अब रही न कुछ भी आस

"निज लोगों से बिछुर अकेला उनकी सुध में रोता है
करकर सोच उन्हीं का फिर फिर तन आँसू से धोता है
या मैत्री का लिया बुरा फल, छल से वंचित होय
दिया पराये अर्थ व्यर्थ को, सर्वस अपना खोय ?

"नवयौवन के सुधा-सलिल में क्या विष-विन्दु मिलाया है
अपनी सौख्य वाटिका में क्या कंटक वृक्ष लगाया है
अथवा तेरे अमित दुःख का केवल कारण प्रेम
होना कठिन निबाह जगत में, जिसका दुर्घट नेम ?

"महा तुच्छ सांसारिक सुख जो धन के बल से मिलता है
काच समान समझिये इसको, पल भर में सब गलता है
जो इस नश्यमान धन सुख को, खोजै है मतिमूढ़
उस्की तुल्य धरातल ऊपर, है नहिं कोई कूढ़

"उसी भाँति सांसारिक मैत्री, केवल एक कहानी है
नाम मात्र से अधिक आज तक, नहीं किसी ने जानी है
जब तक धन सम्पदा प्रतिष्ठा, अथवा यश विख्याति
तब तक सभी मित्र; शुभचिन्तक, निज कुल बान्धव ज्ञाति

"अपना स्वार्थ सिद्ध करने को जगत मित्र बन जाता है
किन्तु काम पड़ने पर, कोई कभी काम नहिं आता है
भरे बहुत से इस पृथ्वी पर पापी, कुटिल, कृतघ्न
इसी एक कारण से उस्पर, उठें अनेकों विघ्न

"जो तू प्रेम पन्थ में पड़कर, मन को दुःख पहुँचाता है
तो है निपट अजान, अज्ञ, निज जीवन व्यर्थ गँवाता है
कुत्सित, कुटिल, क्रूर पृथ्वी पर कहाँ प्रेम का वास
अरे मूर्ख, आकाश पुष्पवत्, झूठी उसकी आस

"जो कुछ प्रेम अंश पृथ्वी पर, जब तब पाया जाता है
सो सब शुद्ध कपोतों ही के कुल में आदर पाता है
धन वैभव आदिक से भी, यह थोथा प्रेम विचार
वृथा मोह अज्ञान जनित, सब तत्त्व शून्य निस्सार

"बड़ी लाज है युवा पुरुष, नहिं इसमें तेरी शोभा है"
तज तरुणी का ध्यान, मान, मन जिसपर तेरा लोभा है"
इतना कहते ही योगी के, हुआ पथिक कुछ और
लाज सहित संकोच भाव सा आया मुख पर दौर

अति आश्चर्य दृश्य योगी को वहाँ दृष्टि अब आता है
परम ललित लावण्य रूपनिधि, पथिक प्रगट बन जाता है

बहै अनर्गल अश्रु-धार यह ज्यों पावस का मेह
आर्द्र कपोल, चिबुक, वक्षस्थल, सजल हुई सब देह

चतुर, बहुज्ञ, विज्ञ, वैरागी उसकी दशा निरखता है
कोमल, मृदुल, मिष्ट वाणी से दुख का हेतु परखता है
उसी व्यथा से है परिपीड़ित, यह बनखंडी आप
देख चुका है दुःख जगत के, तथा विविध सन्ताप

"क्यों यह दुःख तुझे परदेसी !" लगा पूछने वैरागी
"किस कारण से भरा हृदय, क्या व्यथा तेरे मन को लागी ?
असौभाग्यवश छूट गया घर, मन्दिर सुख आवास
जिसके मिलने की तुझको अब रही न कुछ भी आस

"निज लोगों से बिछुर अकेला उनकी सुध में रोता है
करकर सोच उन्हीं का फिर फिर तन आँसू से धोता है
या मैत्री का लिया बुरा फल, छल से वंचित होय
दिया पराये अर्थ व्यर्थ को, सर्वस अपना खोय ?

"नवयौवन के सुधा-सलिल में क्या विष-विन्दु मिलाया है
अपनी सौख्य वाटिका में क्या कंटक वृक्ष लगाया है
अथवा तेरे अमित दुःख का केवल कारण प्रेम
होना कठिन निबाह जगत में, जिसका दुर्घट नेम ?

"महा तुच्छ सांसारिक सुख जो धन के बल से मिलता है
काच समान समझिये इसको, पल भर में सब गलता है
जो इस नश्यमान धन सुख को, खोजै है मतिमूढ़
उस्की तुल्य धरातल ऊपर, है नहिं कोई कूढ़

"उसी भाँति सांसारिक मैत्री, केवल एक कहानी है
नाम मात्र से अधिक आज तक, नहीं किसी ने जानी है
जब तक धन सम्पदा प्रतिष्ठा, अथवा यश विख्याति
तब तक सभी मित्र; शुभचिन्तक, निज कुल बान्धव ज्ञाति

"अपना स्वार्थ सिद्ध करने को जगत मित्र बन जाता है
किन्तु काम पड़ने पर, कोई कभी काम नहिं आता है
भरे बहुत से इस पृथ्वी पर पापी, कुटिल, कृतघ्न
इसी एक कारण से ऊपर, उठें अनेकों विघ्न

"जो तू प्रेम पन्थ में पड़कर, मन को दुःख पहुँचाता है
तो है निपट अजान, अज्ञ, निज जीवन व्यर्थ गँवाता है
कुत्सित, कुटिल, क्रूर पृथ्वी पर कहाँ प्रेम का वास
अरे मूर्ख, आकाश पुष्पवत्, झूठी उसकी आस

"जो कुछ प्रेम अंश पृथ्वी पर, जब तब पाया जाता है
सो सब शुद्ध कपोतों ही के कुल में आदर पाता है
धन वैभव आदिक से भी, यह थोथा प्रेम विचार
वृथा मोह अज्ञान जनित, सब तत्त्व शून्य निस्सार

"बड़ी लाज है युवा पुरुष, नहिं इसमें तेरी शोभा है"
तज तरुणी का ध्यान, मान, मन जिसपर तेरा लोभा है"
इतना कहते ही योगी के, हुआ पथिक कुछ और
लाज सहित संकोच भाव सा आया मुख पर दौर

अति आश्चर्य दृश्य योगी को वहाँ दृष्टि अब आता है
परम ललित लावण्य रूपनिधि, पथिक प्रगट बन जाता है

ज्यों प्रभात अरुणोदय वेला विमल वर्ण आकाश
त्योंही गुप्त बटोही की छवि क्रम क्रम हुई प्रकाश

"नीचे नेत्र, उच्च वक्षस्थल, रूप छटा फैलाता है
शनैः शनैः दर्शक के मन पर, निज अधिकार जमाता है
इस चरित्र से वैरागी को हुआ ज्ञान तत्काल
नहीं पुरुष यह पथिक विलक्षण किन्तु सुन्दरी बाल !

"क्षमा, होय अपराध साधुवर, हे दयालु सद्गुणराशी
भाग्य हीन, एक दीन विरहिनी, है यथार्थ में यह दासी
किया, अशुचि आकर मैंने, यह आश्रम परम पुनीत
सिर नवाय, कर जोड़, दुःखिनी बोली वचन विनीत

"शोचनीय मम दशा, कथा मैं कहूँ आप सो सुन लीजै
प्रेम व्यथित अबला पर, अपनी दया दृष्टि योगी कीजै
केवल प्रथम प्रेरणा के वश छोड़ा अपना गेह
धारण किया प्राणपति के हित, पुरुष वेष निज देह

"टाइन नदी के रम्य तीर पर, भूमि मनोहर हरियाली
लटक रहीं, झुक रहीं, जहाँ द्रुमलता, छुएं जल से डाली
चिपटा हुआ उसी के तट से, उज्ज्वल उच्च विशाल
शोभित है एक महल बाग़ में आगे है एक ताल

"उस समग्र वन, भवन, बाग़ का मेरा बाप ही स्वामी था
धर्मशील, सत्कर्मनिष्ठ वह जमींदार एक नामी था
बड़ा धनाढ्य, उदार, महाशय, दीन दरिद्र सहाय
कृषिकारों का प्रेमपात्र, सब विधि सद्गुण समुदाय

"मेरी बाल्य अवस्था ही में, माँ ने किया स्वर्ग प्रस्थान
रही अकेली साथ पिता के, थी मैं उसकी जीवन प्राण
बड़े स्नेह से उसने मुझको पाला पोसा आप
सब कन्याओं को परमेश्वर देवे ऐसा बाप

"दो घंटे तक मुझे नित्य वह श्रम से आप पढ़ाता था
विद्या विषयक विविध चातुरी, नित्य नई सिखलाता था
करूँ कहाँ तक वर्णन उसकी अतुल दया का भाव
हुआ न होगा किसी पिता का ऐसा मृदुल स्वभाव

"मैं ही एक बालिका, उसके सत्कुल में जीवित थी शेष
इस्से स्वत्व बाप के धन का प्राप्य मुझी को था निश्शेष
था यथार्थ में गेह हमारा, सब प्रकार सम्पन्न
ईश्वर तुल्य पिता के सन्मुख, थी मैं पूर्ण प्रसन्न

"हमजोली की सखियों के सँग, पढ़ने लिखने का आनन्द
परमप्रीतियुत प्यार परस्पर, सब विधि सदा सुखी स्वच्छन्द
सुख ही सुख में बीता मेरा बचपन का सब काल
और उसी निश्चिन्त दशा में लगी सोलवीं साल

"मुझे पिता की गोदी में से अलगाने के अभिलाषी
आने लगे अनेक युवक अब, दूर दूर तक के वासी
भाँति भाँति से करें प्रगट; वह अपने मन का भाव
बार बार दरसाय बुद्धि, विद्या, कुल, शील, स्वभाव

पूर्ण रूप से मोहित मुझ पर अपना चित्त जनाते थे
उपमा सहित रूप मेरे की, विविध बड़ाई गाते थे

नित्य नित्य बहुमूल्य वस्तुओं के नवीन उपहार
लाकर धरें करें सुश्रुषा युवक अनेक प्रकार

"उनमें एक कुमार एडविन, प्रेमी प्रति दिन आता था
वय किशोर सुन्दर सरूप, मन जिसको देख लुभाता था
वारै था वह मेरे ऊपर, तन मन सर्वस प्रान
किन्तु मनोरथ अपना उसने, कभी प्रकाश किया न

"साधारण अति रहन सहन, मृदुबोल हृदय हरनेवाला
मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर, मनुज वंश का उजियाला
सभ्य, सुजन, सत्कर्म्मपरायण सौम्य, सुशील सुजान
शुद्ध चरित्र, उदार, प्रकृति शुभ, विद्या बुद्धिनिधान

"नहीं विभव कुछ धन धरती का, न अधिकार कोई उस्को था
गुण ही थे केवल उसका धन, सो धन सारा मुझको था
उस अलभ्य धन के पाने को, थे नहिं मेरे भाग
हा धिक् व्यर्थ प्राणधारण, धिक् जीवन का अनुराग !

"प्राणपियारे की गुणगाथा, साधु. कहाँ तक मैं गाऊँ
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ
विश्वनिकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर
बलिहारौं त्रिभुवन धन उसपर वारौं काम करोर

"मूरत उसकी बसी हृदय में अब तक मुझे जिलाती है
फिर भी मिलने की दृढ़ आशा, धीरज अभी बँधाती है
करती हूँ दिन रात उसी का आराधन और ध्यान
वोही मेरा इष्टदेव है, वोही जीवन प्रान

"जब वह मेरे साथ टहलने शैल-तटी में जाता था
अपनी अमृतमयी वाणी से प्रेमसुधा बरसाता था
उसके स्वर से हो जाता था वनस्थली का ठाम
सौरभ मिलित सुरस रवपूरित सुर-कानन सुखधाम

"उसके मन की सुघराई की उपमा उचित कहाँ पाऊँ
मुकुलित नवल कुसुम कलिका सम कहते फिर फिर सकुचाऊ
यद्यपि ओस विन्दु अति उज्ज्वल, मुक्ता विमल अनूप
किन्तु एक परिमाणु मात्र भी नहिं उसके अनुरूप

"तरु पर फूल कमल पर जलकण सुन्दर परम सुहाते हैं
अल्प काल के बीच किन्तु वे कुम्हलाकर मिट जाते हैं
उनकी उसमें रही मोहनी पर मुझको धिक्कार !
केवल एक क्षणिकता मुझमें थी उनके अनुसार

"क्योंकि रूप के अहंकार में हुई चपल, चंचल और ढीठ
प्रेम परीक्षा करने को मैं उसको लगी दिखाने पीठ
थी यथार्थ में यद्यपि उसपर तन मन से आसक्त
किन्तु बनाय लिया ऊपर से रूखा रूप विरक्त

"पहुँचा उसे खेद इस्से अति, हुआ दुखित अत्यन्त उदास
तज दी अपने मन में उसने मेरे मिलने की सब आस
मैं यह दशा देखने पर भी, ऐसी हुई कठोर
करने लगी अधिक रूखापन दिन दिन उसकी ओर

"होकर निपट निरास, अन्त को चला गया वह बेचारा
अपने उस अनुचित घमंड का फल मैंने पाया सारा

एकाकी में जाकर उसने तोड़ जगत से नेह
धोकर हाथ प्रीति मेरी से, त्याग दिया निज देह

"किन्तु प्रेमनिधि, प्राणनाथ को भूल नहीं मैं जाऊँगी
प्राण दान के द्वारा उसका ऋण मैं आप चुकाऊँगी
उस एकान्त ठौर को मैं अब ढूँढ़ूँ हूँ दिन रैन
दुख की आग बुझाय जहाँ पर दूँ इस मन को चैन

"जाकर वहाँ जगत को मैं भी उसी भाँति बिसराऊँगी
देह गेह को देय तिलांजलि, प्रिय से प्रीति निभाऊँगी
मेरे लिये एडविन ने ज्यों किया प्रीति का नेम
त्योंही मैं भी शीघ्र करूँगी परिचित अपना प्रेम"

"करै नहीं परमेश्वर ऐसा" ! बोला झटपट वैरागी
लिया गले लिपटाय उसे, पर वह क्रोधित होने लागी
था परन्तु यह वन का योगी वही एडविन आप
आयु बितावै था जंगल में, भूल जगत सन्ताप

"मेरी जीवन मूर प्रानधन अहो अंजलैना प्यारी" !
बोला उत्कंठित होकर वह, "अहो प्रीति जग से न्यारी !
"इतने दिन का बिछुरा तेरा वही एडविन आज
मिला प्रिये तुझको मैं, मेरे हुए सिद्ध सब काज

"धन्यवाद ईश्वर को देकर बार बार बलि बलि जाऊँ
तुझको गले लगाकर प्यारी निज जीवन का फल पाऊँ
कर दीजे अब सब चिन्ता का इसी घड़ी से त्याग
तू यह अपना पथिक वेश तज, मैं छोड़ूँ वैराग

"प्यारी तुझे छोड़कर मैं अब कभी कहीं नहिं जाऊँगा
तेरी ही सेवा में अपना जीवन शेष बिताऊँगा
गाऊँगा तव नाम अहर्निश पाऊँगा सुखदान
तुही एक मेरा सर्वस धन, तन मन जीवन प्रान

"इस मुहूर्त्त से प्रिये, नहीं अब पलभर भी होंगे न्यारे
जिन विघ्नों से था विछोह यह, सो अब दूर हुए सारे
यद्यपि भिन्न शरीर हमारे, हृदय प्राण मन एक
परमेश्वर की अतुल कृपा से निभी हमारी टेक"

"योगी को अब उस रमणी ने भुज भर किया प्रेम आलिंग
गदगद बोल, वारिपूरित दृग, उमगित मन, पुलकित सब अंग
बार बार आलिङ्गित दोनों, करें प्रेम रस पान
एक एक की ओर निहारें, वारें तन मन प्रान

"परम प्रशस्य अहो प्रेमी ये, कठिन प्रेम इनने साधा
इस अनन्यता सहित धन्य, अपने प्यारे को आराधा
प्रिय वियोग परितापित होकर, दिया सभी कुछ त्याग
वन वन फिरना लिया एक ने, दूजे ने वैराग

धन्य अंजलैना तेरा व्रत, धन्य, ऐडविन का यह नेम !
धन्य धन्य यह मनोदमन और धन्य अटल उनका यह प्रेम
रहो निरन्तर साथ परस्पर, भोगो सुख आनन्द
जुग जुग जियो जुगल जोड़ी, मिल पियो प्रेम मकरन्द

महावीरप्रसाद द्विवेदी

(कुमारसम्भव-सार)

(१)

सम्मुख ही उस भाँति, शम्भु ने कामदेव का करके दाह,
कर दी विफल साथ ही उसके, निज विषयक गिरिजा की चाह।
अतः उमा ने रम्य रूप को धिक्कारा बहु बार लजाय,
वही सुघरता सफल समझिये जो प्रियतम को सकै लुभाय॥

(२)

जाय समाधि अखंडित तप का, अनुष्ठान करके भारी
सफल उमा ने करना चाहा, अपना रूप मनोहारी।
बिना यह किये कैसे मिलतीं दोनों बातें सुखकारी?
वैसा प्रेम; और फिर; वैसा मृत्युंजय पति त्रिपुरारी॥

(३)

मेना ने जब सुना कि मेरी कन्या शिव को चहती है,
और उन्हीं के लिये तपस्या वन में करने कहती है।
तब मुनियों के कठिन कर्म से करती हुई निवारण वह,
बड़े प्रेम से शैल-सुता को गले लगाकर बोली यह॥

(४)

मनमाने घर ही में सुर हैं सुते! उन्हीं की सेवा कर,
कहाँ क्लेशकारी तप? तेरा कहाँ कलेवर कोमलतर?
अति मृदु सिरस-फूल मधुकर का हलका पद सह सकता है,
पत्ती का पद सह सकने की शक्ति वह नहीं रखता है॥

(५)

माता ने इस भाँति, उमा से कहा सभी कुछ मनमाना,
किन्तु न रुकी तपस्या से वह, व्यर्थ हुआ सब समझाना।
मन का दृढ़ संकल्प, और जल जो नीचे को गिरता है,
कोटि यत्न करने पर भी वह किसका फेरा फिरता है?

(६)

मनोऽभिलाष जाननेवाले गिरिवर से निज अभिलाषा
एक बार आली के मुख से शैलसुता ने यों भाखा।
"फल मिलने तक, वन में मुझको, तप-निमित्त रहने दीजै,
यही आपसे मैं चहती हूँ, प्यारे पिता कृपा कीजै"॥

(७)

यह अपने अनुरूप प्रार्थना लगी पिता को अति प्यारी,
दिया निदेश उसी क्षण उसने, मन में मान तोष भारी।
जिस मयूर-मंडित गिरि ऊपर गौरी तप के लिए गई,
उसको गौरी-शिखर नाम की पावन पदवी मिली नई॥

(८)

कुंचित-कच-कलाप-युत उसके मुख पर थी जो मधुराई,
जटाजूट रखने पर भी वह रही पूर्ववत् ही छाई।
मधुपावली संग जो शोभा पंकज-कलिका पाती है,
सघन-सिवार-संग में भी वह वैसी ही दिखलाती है॥

(९)

मूल्यवान् शय्या के ऊपर निज केशों से कोमल फूल,
गिर कर, जिसको चुभते से थे; होते थे पीड़ा का मूल।
वही बिछौने बिन वेदी पर तकिया अपनी बाँह बनाय,
सोई और वहीं बैठी भी तप-साधन में ध्यान लगाय॥

(१०)

व्रत-पालन में तत्पर उसने "फिर ले लूँगी" यह मन ठान,
ये दोनों ही इन दोनों को दिये धरोहर-वस्तु समान।
ललित लताओं को पहले के अपने सब शृंगारिक भाव,
हरिण-नारियों को नयनों की चंचलता का सहज स्वभाव॥

(११)

आश्रम के अनेक पौधों को, आलसता तज, क्लेश उठाय,
बड़ा किया उसने घटरूपी-स्तन का पय स्वयमेव पिलाय।
प्रथम जन्म पाने के कारण जिनका सुत वात्सल्य विशेष,
पुत्र-शिरोमणि कार्त्तिकेय भी नहीं कर सकेंगे निःशेष॥

(१२)

नित्य अंजली भर भर पाकर वन के विमल अन्न का दान,
हरिण-यूथ हिल, हुए यहाँ तक गिरिजा में विश्वास-निधान।
कि निज सखी जन्म के सम्मुख ही उसने कौतूहल में आय,
उनके अति चंचल नयनों से नापे अपने नयन मिलाय॥

(१३)

शुचि-स्नान कर डाल गले में वर वल्कल शोभाशाली,
हव्य हुताशन को पहुँचाकर नित्य पाठ करनेवाली।
उस तापसी उमा का दर्शन करने आये मुनि ज्ञानी,
धर्म्म-वृद्ध में वय की लघुता कहीं नहीं जाती मानी॥

(१४)

इतना तप करने पर उसने जी में जब यह अनुमाना,
कि फल मुझे इतने से अब भी नहीं मिलेगा मनमाना।
देह-मृदुलता की अनपेक्षा करके तब वह सुकुमारी,
करने लगी उसी क्षण से ही तपो-विधान महा भारी॥

(१५)

घर पर, गेंद खेलने से भी जिसे थकावट हुई विशेष,
उसी उमा ने मुनीश्वरों के दुर्गम पथ में किया प्रवेश।
कंचन के कमलों से निर्म्मित था अवश्य गिरिजा का गात,
मृदुता और कठिनता दोनों जिनकी स्वाभाविक विख्यात॥

(१६)

उस सुहासिनी सिंहकटी ने, ग्रीष्मकाल में, पावक चार,
अपने चारों ओर जलाकर, मध्य भाग में आसन मार।
करके विजय नेत्र-संहारक किरणों की ज्वाला का जाल,
इकटक सूर्य्य-बिम्ब को देखा ऊँचा किये हुए निज भाल॥

(१७)

दिनकर की मरीचि-माला से महा तप्त हो, उक्त प्रकार,
उसके मुख मंडल ने पाया सरसिज की शोभा का सार।
अति विशाल दोनों नयनों के केवल कोनों ही के पास,
श्यामलता ने धीरे धीरे आकर अपना किया निवास॥

(१८)

बिना याचना के जो कोई स्वयं सलिल ले आता था,
सरस शशी का किरण-जाल जो यथा समय हिल जाता था।
उसे छोड़कर शैलसुता ने और न कुछ मुँह में डाला,
वृक्षों के समान आकाशी-वृत्ति-व्रत उसने पाला॥

(१९)

रवि-रूपी आकाश-निवासी, महिवासी इन्धनवाला,
इन दोनों अनलों से उसने अपना तन तपाय डाला।
वर्षा-ऋतु में पहला पानी बरसा जब उसके ऊपर,
तब उसने साथ ही मही के छोड़ी उष्ण भाप खर-तर॥

(२०)

वायु-वेग के साथ, निरन्तर, हुई वृष्टि जब महा अपार,
तब भी शैल-शिला-ऊपर वह पड़ी रही छोड़े घर-द्वार।
ऐसे तप की सत्य-साक्षिणी नील-निशाओं ने, बहु-बार।
उसे, उस समय, मानो देखा चपला-रूपी-चक्षु उघार॥

(२१)

साथ छूट जाने के कारण करुणामय विलापकारी,
चक्रवाक जोड़े को करती हुई कृपा का अधिकारी।
जिनमें पवन-संग पड़ता था दुख-दायक पाला भारी,
ऐसी पूस-निशाएँ उसने पानी में काटीं सारी॥

(२२)

तुहिन-वृष्टि होने से सरसिज जिस सर के थे गये सुखाय,
उसमें उस गिरिराज-सुता ने रात रात भर खड़े बिताय।
कम्पित-अधर-पत्र से शोभित अपना मुख-सरोज विकसाय,
पुनरपि किया प्रफुल्लित मानो नये नीरजों का समुदाय॥

(२३)

वृक्षों से जो पीली पत्ती गिरकर नीचे आती है,
उसकी वृत्ति तपश्चर्य्या की सीमा समझी जाती है।
इस प्रकार के जीर्ण पर्ण को भी न पार्वती ने खाया;
इससे उसने नाम 'अपर्णा' इतिहासज्ञों से पाया॥

(२४)

ऐसी कठिन तपस्या से निज कमल-नाल-सम कोमल-गात,
अस्थि-शेष होने तक कम कम करती हुई कृशित दिन रात।
मुनियों के कठोर अंगों से संचित तप को बारम्बार,
मात किया शैलेश-सुता ने अपने तप से भले प्रकार॥

(२५)

लिए मंजु-मृग चर्म्म और, शुचि किंशुक दंड मनोहारी,
जलता सा वर ब्रह्म-तेज से बातों में प्रगल्भ भारी।
पावन-ब्रह्मचर्य-आश्रम की दिव्य देह का अनुकारी,
एक बार गिरिजा के वन में आया एक जटाधारी॥

(२६)

भक्ति-भाव-युत शैलसुता ने पूजा का लेकर सामान,
निज आश्रम से आगे बढ़कर किया जाय उसका सम्मान।
सब प्रकार से सम होकर भी महा-महिम-जन धर्म्म-निधान,
किसी किसी का बड़े प्रेम से करते हैं सत्कार महान्॥

(२७)

विधिवत् किये गये आदर का हर्ष-सहित करके स्वीकार,
क्षण भर बैठ और कर पथ के श्रम-समूह का भी परिहार।
कुटिल-कटाक्ष-हीन नयनों से शैल-नन्दिनी ओर निहार,
किया यथाक्रम उसने अपने मधुमय वचनों का विस्तार॥

(२८)

क्या कुश समिधादिक सब तुझको यहाँ सुलभ दिखलाता है?
स्नान-योग्य क्या निर्मल जल भी इस वन में मिल जाता है?
बल-बाहर तो नहीं तपस्या करती है हे सुकुमारी?
क्योंकि, देह यह सब धर्म्मों के साधन में सहायकारी॥

(२९)

लाक्षा-रस यद्यपि बहु दिन से पाया नहीं तदपि लाले,
इन तेरे अधरों की समता भली भाँति करनेवाले।
तुझसे सींची गई लताओं के नवपल्लव अरुणारे,
क्या अपनी अपनी डालों में क्षेम-कुशल-युत हैं सारे॥

(३०)

हे नवीन-नीरज-दललोचनि ! निज चंचल लोचन दिखलाय,
तव विलोचनों की समता सी करनेवाले मृग समुदाय।
प्रेम-सहित, कर-कमलों से कुश छीन छीन कर बारम्बार,
उपजाते तो नहीं चित्त में तेरे कोई कोप-विकार?

(३१)

"रूपवान् जन पाप-वृत्ति के नहीं पास भी जाता है—"
इस प्रकार का कथन सर्वदा सत्य मुझे दिखलाता है।
तेरा शील विलोकन करके हे उदार-दर्शनवाली!
मिलता है उपदेश उन्हें भी जो अति अद्भुत तपशाली॥

(३२)

प्रात सप्त ऋषियों के फेंके फूलों को हँसनेवाले,
अमर लोक से आये सुरसरि-सलिलों से हे गिरि वाले!
हिम-मंडित यह शैल हिमालय पावन हुआ नहीं उतना,
तेरे महा अमल-चरितों से अपने वंश-सहित जितना॥

(३३)

हे अति विशद मनोरथवाली! इस त्रिवर्ग में सबका सार,
एक धर्म्म ही है—यह मेरे मन में आता है सुविचार।
क्योंकि काम के और अर्थ के चिन्तन से वासना हटाय,
केवल धर्म्म मार्ग का सेवन करती है तू चित्त लगाय॥

(३४)

तूने आज किया है मेरा हे गिरजे! विशेष सम्मान,
अतः मुझे परकीय तुल्य तू अब मत अपने मन में मान।
विद्वानों का कथन है कि जो हो जावें बस बातें सात,
सुजनों की मित्रता, विश्व में, तो, उतने ही से विख्यात॥

(३५)

मैं द्विज हूँ, इससे मुझमें है स्वाभाविक चंचलताई,
अतः पूछना चहता हूँ मैं एक बात जो मन आई।
क्षमावती! हे तपस्विनी! यह मम धृष्टता क्षमा कीजै,
बतलाने के योग्य होय जो तौ मुझको बतला दीजै॥

(३६)

निज उत्पत्ति हिरण्यगर्भ के कुल में तूने पाई है,
त्रिभुवन की सुन्दरता मानों तन में आय समाई है।
यह अतुलित ऐश्वर्य और यह मनोहारिणी तरुणाई,
तेरा तप होवेगा इससे अधिक और क्या फलदाई?॥

(३७)

किसी महा दुःसह अनिष्ट से पीड़ित यदि हो जाती हैं,
मानवती महिलाएँ ऐसे तप में चित्त लगाती हैं।
किन्तु विचार मार्ग में जब मैं अपना मन दौड़ाता हूँ,
हे कृशोदरी! तुझमें कोई वैसी बात न पाता हूँ॥

(३८)

हे सुन्दरि! यह मधुर मूर्त्ति तव अपमानादिक योग्य नहीं,
पिता-भवन में मान हानि भी हो सकती है भला कहीं?
यह भी सम्भव नहीं कि तुझको कोई कभी सतावैगा,
भीम-भुजंग शीश की मणि पर निज कर कौन चलावैगा॥

(३९)

वल्कल सदा बुढ़ापे ही में शोभा को पानेवाला,
आभूषण तज नूतन वय में क्यों तूने तन पर डाला?
शशी और तारा से शोभित सायंकाल निशा-नारी,
रवि सारथी पास जाने की करती है क्या तैयारी?

(४०)

देव-लोक चहती है, तो यह निष्फल श्रम—लीला सारी,
तेरा पिता हिमालय ही है देव-भूमि का अधिकारी।
पति पाने की यदि इच्छा है, तो समाप्त कर तप भारी,
ग्राहक नहीं, रत्न ही ढूँढ़ा जाता है हे सुकुमारी!

(४१)

उष्ण साँस लेकर पिछला ही तू कारण बतलाती है,
किन्तु बुद्धि मम संशय में फँस फिर भी चक्कर खाती है।
तव प्रार्थना-योग्य इस विस्तृत विश्व में न है कोई वर,
करने पर प्रार्थना भला फिर नहीं मिलेगा वह क्योंकर॥

(४२)

बिना कमल-कुंडल कपोल तव सूने से दिखलाते हैं,
उन पर जो ये लम्बे लम्बे जटा-जाल लहराते हैं।
इनको तुच्छ समझता है जो युवा स्नेह-भाजन तेरा,
वह अवश्य ही वज्र-हृदय है—यही अटल निश्चय मेरा॥

(४३)

मुनियों के कठोर नियमों से अतिशय कृश होनेवाली,
देह दिवाकर की किरणों से किये हुए काली काली।
दिन में उदित चन्द्रलेखा-सम गिरिजे! मुझे विलोकन कर;
किस सजीव का हृदय दुःख से हाय! नहीं होता जर्जर?

(४४)

कुटिल और काली बिरौनियों से जो शोभा पाते हैं,
अवलोकन के समय चपलता करते जो सकुचाते हैं।
ऐसे इन नयनों के सम्मुख हुआ नहीं तेरा प्यारा!
निश्चय निज सौन्दर्य-गर्व से ठगा गया वह बेचारा!

(४५)

हे शैलेश-नन्दिनी ? कब तक किया करेगी श्रम ऐसा ?
ब्रह्मचर्य आश्रम का हैगा, मेरा भी व्रत थोड़ा सा।
उसके अर्द्ध भाग से अपनी मनोकामना पूरी कर,
किन्तु मुझे बतला तो किसको करना चहती है तू वर" ॥

(४६)

उस द्विज ने आश्रम के भीतर आकर इस प्रकार भाखा,
गिरि-तनया परन्तु लज्जा-वश कह न सकी निज अभिलाषा।
अपने कज्जल-हीन विलोचन उसने केवल ऊँचे कर,
यहाँ पासवाली आली को अवलोका उस अवसर पर ॥

(४७)

बोली सखी शैल-तनया की "हे द्विज ब्रह्मचर्य-धारी ?
यदि सुनना चहता है सुन तू उसकी कर्म्म-कथा सारी।
धूप न लगै इसलिये कोई कमल-पत्र तानै जैसे,
कहती हूँ क्यों तप का साधक इसने गात किया तैसे ॥

(४८)

वरुण कुबेर और सुरनायक, धर्मराज प्रभुताशाली,
कुछ न समझ इन दिक्पालों को यह मम मानवती आली।
काम-नाश करने के कारण जिन्हें न मोहे सुघराई,
ऐसे शिव को किया चाहती है अपना पति सुखदाई ॥

(४९)

अति दुर्धर्ष विलोचन तक जो नहीं पहुँच पाये उस काल,
उनके 'हूँ' करते ही पीछे फिरना पड़ा जिन्हें तत्काल।
मूर्त्ति-हीन भी मकर-ध्वज के वे ही महा विलक्षण बाण,
बड़े वेग से इसके उर में प्रविशे देकर दुःख महान् ॥

(५०)

तब से यह निज पिता-सदन में व्यथा काम की सहती थी,
अलकों को ललाट चन्दन से मले हुए ही रहती थी।
विमल-बर्फ की भी अति शीतल सुखद शिलाओं के ऊपर,
सच कहती हूँ, इस बाला को चैन न पड़ती थी क्षण भर॥

(५१)

किन्नर-कन्याओं को लेकर शम्भु-चरित जब गाती थी,
तब यह आँखों से आँसू की अविरल धार बहाती थी।
अनमिल स्वर-गद्गद् वाणी से दुःख विशेष बढ़ाती थी,
गान समय की सखियों को भी, अपने साथ रुलाती थी॥

(५२)

तीन पहर निशि गत होने पर यदि कुछ निद्रा आती थी,
तो, फिर, इसकी आँख तनिक में अकस्मात् खुल जाती थी।
मन ही मन श्रीकंठ-कंठ में बाँह डाल, सुख पाती थी,
"हे हर ! कहाँ चले ?" यह कहकर, चौंक चौंक अकुलाती थी॥

(५३)

"बड़े बड़े विद्वज्जन तुमको कहते हैं अन्तर्यामी,
फिर क्यों नहीं जान लेते हो मेरा मनोऽभीष्ट स्वामी"?
अपने ही कर से शंकर का चित्र बनाय हृदयहारी,
उनका उपालम्भ करती थी, इसी भाँति, यह सुकुमारी॥

(५४)

उनके मिलने की जब इसको मिली न और युक्ति कोई,
ढूँढ़ ढूँढ़ कर हार गई यह, बहुत अवधि इसने खोई,
पाय पिता की अनुमति तब, तज माता तथा सगा भाई,
हम सबको ले, यह तप करने यहाँ तपोवन में आई॥

(५५)

तप के साथी तरुवर इसने जितने यहाँ लगाये हैं,
उन सबमें इस समय देखिये फूल और फल छाये हैं।
किन्तु चन्द्रशेखर-सम्बन्धी इसकी अभिलाषा-सुखकर,
अंकुर–युत भी नहीं हुई है, सच कहती हूँ हे द्विजवर॥

(५६)

तप से अतिशय कृश यह इसकी देह न देखी जाती है,
सखियों के नयनों से जल की धारा बह बह आती है।
जुती हुई जलती धरती पर सुरपति-सम वे दुर्लभ हर,
नहीं जानती कब होवेंगे दयावान् इसके ऊपर॥"

(५७)

शैल–किशोरी का मन पाकर कुछ न सखी ने किया दुराव,
उस साधू को साफ़ साफ़ यों सुना दिया सारा सद्भाव।
सुन उसने पूछा गिरिजा से, बिना किये ही हर्ष-प्रकाश,
"क्या यह सच कहती है, अथवा करती है मुझसे परिहास॥

(५८)

इस प्रकार का प्रश्न श्रवण कर वह तापसी शैल-बाला,
पाणि-सरोरुह की मुट्ठी में धारण किये स्फटिक–माला।
"क्या उत्तर दूँ?" यही देर तक रही सोचती मन ही मन,
किसी भाँति संकोच त्याग कर बोली, फिर, ये अल्प वचन॥

(५९)

"हे वेदज्ञ शिरोमणि! इसने सत्य बात बतलाई है,
दुर्लभ-पद पाने की इच्छा मेरे मन में आई है।
इसीलिए, इस तप-साधन में मैंने चित्त लगाया है,
मनोरथों की सीमा का भी अन्त किसी ने पाया है?

(६०)

बोला चतुर ब्रह्मचारी तब, "हाँ मुझको हैं विदित महेश ,
फिर भी तू उनको पाने की इच्छा करती है सविशेष।
किन्तु, कदापि नहीं दे सकता तुझको निज अनुमोदन-दान ,
क्योंकि, जानता हूँ मैं उनको महा-अमंगल-मूल-निधान ॥

(६१)

तुच्छ वस्तु की अभिलाषा में तुझको रत मैं पाता हूँ ,
तेरी रुचि विचित्रता को मैं सोच सोच पछताता हूँ।
क्योंकर पहले ही, तेरा कर कंकण से शोभित होकर ,
सहन कर सकेगा सर्पों से लपटा हुआ शम्भु का कर ॥

(६२)

कहाँ वधू का वस्त्र मनोहर अति विचित्र पीला पीला ?
कहाँ रुधिर टपकै है जिससे वह गजराज चर्म गीला ?
तू ही समझ देख निज मन में कि यह बात क्या कहता है ?
इन दोनों का साथ सुन्दरी ! कभी उचित हो सकता है ?

(६३)

अम्बुज बिछे हुए आँगन में जो पद सदा पधारे हैं ,
वहीं जिन्होंने मंजु महावर से स्वचिह्न विस्तारे हैं।
बिखरे केश मसान भूमि में वे ही आवें जावेंगे ,
मैं क्या इसे शत्रु भी तेरे कभी न युक्त बतावेंगे !

(६४)

भूतनाथ का यदि आलिंगन तुझे मिला भी सुकुमारी ,
तू ही बता और क्या होगा इससे अधिक हानिकारी ?
हरिचन्दन के योग्य कुचों को तू अति मलिन बनावेगी ,
क्योंकि चिता की भस्म निरन्तर उनमें लग लग जावेगी ॥

(६५)

हे गिरिजे ! उत्तम गजेन्दु के ऊपर होने योग्य सवार ,
शुभ विवाह के पीछे तुझको वृद्ध बैल पर चढ़ा निहार ।
सोहैगी प्रशस्त पुरुषों के मुख में मन्द-मन्द मुसकान ,
देख, आदि ही में यह होगी तव बिडम्बना महा महान् ॥

(६६)

उस भुजंग-भूषण से संगति होने का कर विनय विधान ,
शोचनीय गति को पहुँची हैं ये दोनों ही साँची जान ।
एक चन्द्रमा की चटकीली कला मनोहरता की खान ,
विश्व-विलोचन-मोददायिनी दूजी तू सौन्दर्य-निधान ॥

(६७)

तन कुरूप, दृग तीन विलक्षण तथा जन्म का भी न ठिकान ,
देह दिगम्बरता से धन का होता है पूरा अनुमान ।
मृगनयनी ! वर में जितने गुण देखे जाते हैं सविशेष ,
उनमें से त्रिनयन में सचमुच नहीं एक का भी लव-लेश ॥

(६८)

यह अनुचित अभिलाषा मन से बाहर कर हे सुकुमारी !
सुभग-मूर्त्ति सुन्दरी कहाँ तू ? कहाँ अमंगल त्रिपुरारी ?
यज्ञ-यूप की वैदिक विधि से जो पूजा की जाती है ,
वधसूचक मसान की सूली उसे कभी क्या पाती है ?"

(६९)

उस द्विज ने इस भाँति दिया जब उलटा अभिप्राय सारा ,
कोप प्रकाशित किया उमा ने कम्पित अधरों के द्वारा ।
खींच भाल के ऊपर भौंहें अति विशाल काली काली ,
उसने टेढ़ी कीं निज आँखें कोनों में लाली लाली ॥

(७०)

कहने लगी कि "तू शंकर को नहीं भली विधि जानै है,
इसी लिए ही उनको मुझसे तू इस भाँति बखानै है।
सत्पुरुषों के चरित अलौकिक मूर्ख बुरा बतलाते हैं,
क्योंकि चरित्र-हेतु ही उनकी नहीं समझ में आते हैं॥

(७१)

विपति-नाश अथवा सम्पति का सुख जो सदा मनाते हैं,
वे ही मंगलमयी वस्तु के सेवक देखे जाते हैं।
जिनकी शरण विश्व, बुध जिनको निरभिलाष बतलाते हैं,
आशा से दूषित पदार्थ ये उनको नहीं लुभाते हैं॥

(७२)

यदपि निर्धनी तदपि सभी धन जन्म उन्हीं से पाते हैं,
लोकनाथ होकर मसान में वे नित रहने जाते हैं।
भीमवेश धारण करके भी शिव सदैव कहलाते हैं,
शशि-शेखर के पूरे ज्ञाता त्रिभुवन में न दिखाते हैं॥

(७३)

आभूषण से भूषित; अथवा, भय-दायक भुजंग-धारी,
गज का चर्म लिये हैं; अथवा, मृदुल दुकूल मनोहारी।
ब्रह्म-कपाल-युक्त हैं, अथवा, चन्द्रचूड़ हैं भगवाना;
विश्वमूर्त्ति उस विश्वेश्वर का मर्म नहीं जाता जाना॥

(७४)

उस जगदीश्वर के शरीर से वह ज्यों ही छू जाती है,
त्यों ही रज अपवित्र चिता की अति पवित्र हो जाती है।
नृत्य-समय गिरकर उसके कण भूतल पर जो आते हैं,
दिव्य-देवता उन्हें भाल पर सादर सदा लगाते हैं॥

(७५)

जो सुरपति प्रमत्त दिग्गज के ऊपर आता जाता है,
धन–विहीन उस वृष-वाहन को वह भी शीश नवाता है।
उनके चरण-सरोरुह पर वह अपना मुकुट झुकाता है,
मृदु-मन्दार पराग-पुंज से उँगली अरुण बनाता है॥

(७६)

व्यर्थ दोष कहने की इच्छा तुझमें यदपि समाई है,
एक बात शंकर–सम्बन्धी तूने सत्य सुनाई है।
ब्रह्मा का भी कारण जिनको बतलाते हैं विज्ञानी,
कैसे जान सकेगा उनका उद्भव तू हे अज्ञानी॥

(७७)

तूने जैसा उन्हें सुना है वैसा होने दे निःशेष,
करना नहीं चाहती हूँ मैं तुझसे वाद-विवाद विशेष।
मैं उनमें अनुरक्त एक ही सरस-भाव से भले प्रकार,
स्वेच्छाचारी-जन कलंक का करते नहीं कदापि विचार॥

(७८)

सखी! रोक यह फिर कहने की उत्सुकता दिखलाता है,
देख अधर अपना ऊपर का बार बार फरकाता है।
सत्पुरुषों का निन्दक-जन ही पातक नहीं कमाता है,
निन्दा का सुननेवाला भी अघभागी हो जाता है॥

(७९)

यह कहकर कि यहाँ से मैं ही उठ जाऊँगी" वह बाला,
उठी सवेग कुचों से खिसका पावन–पट वल्कलवाला।
अपना रूप प्रकट करके, तब परमानन्दित हो, हँसकर,
पकड़ लिया निज कर से उसको शंकर ने उस अवसर पर॥

(८०)

उनको देख कम्पयुत धारण किये स्वेद के विन्दु अनेक,
चलने के निमित्त ऊपर ही लिए हुए अपना पद एक।
शैल-मार्ग में आ जाने से आकुल सरिता-तुल्य नितान्त,
पर्वत-सुता न चली, न ठहरी; हुई चित्र खींची-सी भ्रान्त ॥

(८१)

हे नव गात्रि ! आज इस दिन से मुझको अपना सेवक मान,
"मोल ले लिया तूने तप से" यों जब बोले शम्भु सुजान।
तत्क्षण हुआ शैल-तनया के प्रबल परिश्रम का परिहार,
क्लेश समूल भल जाता है फल मिलने पर मनोऽनुसार ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

(प्रियप्रवास)

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल वल्लभ की प्रभा ॥ १ ॥

विपिन बीच विहंगम-वृन्द का।
कल निनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनिमयी विविधा विहगावली।
उड़ रही नभ-मंडल मध्य थी ॥ २ ॥

अधिक और हुई नभ-लालिमा।
दश-दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल-पादप-पुंज हरीतिमा।
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ॥ ३ ॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी।
गगन के तल की यह लालिमा।
सरि सरोवर के जल में पड़ी।
अरुणता अति ही रमणीय थी ॥ ४ ॥

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी।
किरण पादप-शीश-विहारिणी।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला।
गगन-मंडल मध्य शनैः शनैः ॥ ५ ॥

ध्वनिमयी करके गिरि-कन्दरा।
कलित-कानन केलि निकुञ्ज को।
बज उठी मुरली इस काल ही।
तरणिजा - तट - राजित - कुंज में ॥ ६ ॥

क्वणित मंजु-विषाण हुए कई।
रणित शृंग हुए बहु साथ ही।
फिर समाहित प्रान्तर-भाग में।
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ॥ ७ ॥

निमिष में वन-व्यापित-वीथिका।
विविध-धेनु-विभूषित हो गई।
धवल - धूसर - वत्स - समूह भी।
विलसता जिनके दल साथ था ॥ ८ ॥

जब हुए समवेत शनैः शनैः।
सकल गोप सधेनु समंडली।
तब चले व्रज-भूषण को लिये।
अति अलंकृत गोकुल-ग्राम को ॥ ९ ॥

गगन-मंडल में रज छा गई।
दश-दिशा बहु-शब्दमयी हुई।
विशद-गोकुल के प्रति-गेह में।
बह चला वर-स्रोत विनोद का ॥१०॥

सकल वासर आकुल से रहे।
अखिल-मानव गोकुल-ग्राम में।
अब दिनान्त विलोकत ही बढ़ी।
ब्रज - विभूषण - दर्शन - लालसा ॥११॥

सुन पड़ा स्वर ज्यों कल-वेणु का।
सकल - ग्राम समुत्सुक हो उठा।
हृदय-यन्त्र निनादित हो गया।
तुरत ही अनियन्त्रित भाव से ॥१२॥

बहु युवा युवती गृह-बालिका।
विपुल - बालक वृद्ध वयस्क भी।
विवश से निकले निज गेह से।
स्वदृग का दुख-मोचन के लिये ॥१३॥

इधर गोकुल से जनता कढ़ी।
उमगती पगती अति मोद में।
उधर आ पहुँची बलबीर की।
विपुल - धेनु - विमंडित मंडली ॥१४॥

ककुभ - शोभित गोरज बीच से।
निकलते ब्रज - वल्लभ यों लसे।
कदन ज्यों करके दिशि-कालिमा।
विलसता नभ में नलिनीश है ॥१५॥

अतसि - पुष्प अलंकृतकारिणी।
शरद नील-सरोरुह रंजिनी।
नवल सुन्दर-श्याम - शरीर की।
सजल-नीरद सी कल कान्ति थी ॥१६॥

अति-समुत्तम अंग समूह था।
मुकुर-मंजुल औ मनभावना।
सतत थी जिसमें सुकुमारता।
सरसता प्रतिबिम्बित हो रही ॥१७॥

विलसता कटि में पट पीत था।
रुचिर-वस्त्र विभूषित गात था।
लस रही उर में वनमाल थी।
कल-दुकूल-अलंकृत स्कंध था ॥१८॥

मकर-केतन के कल-केतु से।
लसित थे वर-कुंडल कान में।
घिर रही जिनकी सब ओर थी।
विविध-भावमयी अलकावली ॥१९॥

मुकुट मस्तक का शिखि-पक्ष का।
मधुरिमामय था बहु मंजु था।
असित रत्न समान सुरंजिता।
सतत थी जिसकी वर-चन्द्रिका ॥२०॥

विशद उज्ज्वल उन्नत भाल में।
विलसती कल केसर-खौर थी।
असित-पंकज के दल में यथा।
रज-सुरंजित पीत सरोज की ॥२१॥

मधुरता-मय था मृदु-बोलना।
अमृत-सिंचित सी मुसकान थी।
समद थी जन-मानस मोहती।
कमल-लोचन की कमनीयता ॥२२॥

सबल-जानु विलम्बित बाहु थी ।
अति - सुपुष्ट - समुन्नत वक्ष था ।
वय - किशोर - कला लसितांग था ।
मुख प्रफुल्लित पद्म-समान था ।।२३।।

सरस - राग - समूह सहेलिका ।
सहचरी मन मोहन - मन्त्र की ।
रसिकता - जननी कल - नादिनी ।
मुरलि थी कर में मधुवर्षिणी ।।२४।।

छलकती मुख की छवि - पुंजता ।
छिटकती क्षिति छू तन की छटा ।
बगरती बर दीप्ति दिगन्त में ।
क्षितिज में क्षणदा-कर कान्ति सी ।।२५।।

मुदित गोकुल की जन-मंडली ।
जब ब्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी ।
निरखने मुख की छवि यों लगी ।
तृषित-चातक ज्यों घन की घटा ।।२६।।

पलक लोचन की पड़ती न थी ।
हिल नहीं सकता तन-लोम था ।
छवि - रता बनिता सब यों बनीं ।
उपल - निर्मित पुत्तलिका यथा ।।२७।।

उछलते शिशु थे अति हर्ष से ।
युवक थे रस की निधि लूटते ।
जरठ को फल लोचन का मिला ।
निरख के सुषमा सुखमूल की ।।२८।।

बहु-विनोदित थीं ब्रज - बालिका ।
तरुणियाँ सब थीं तृण तोड़ती ।
बलि गईं बहु बार वयोवती ।
छवि-विभूति विलोक ब्रजेन्दु की ।।२६।।

मुरलिका कर - पंकज में लसी ।
जब अचानक थी बजती कभी ।
तब सुधारस मंजु-प्रवाह में ।
जन - समागम था अवगाहता ।।३०।।

ढिग सुशोभित श्रीबलराम थे ।
निकट गोप - कुमार - समूह था ।
विविध - गातवती गरिमामयी ।
सुरभि थीं सब ओर विराजती ।।३१।।

बज रहे बहु - शृंग - विषाण थे ।
क्वणित हो उठता वर-वेणु था ।
सरस-राग समूह अलाप से ।
रसवती-बन थी मुदिता-दिशा ।।३२।।

विविध - भाव-विमुग्ध बनी हुई ।
मुदित थी बहु दर्शक-मंडली ।
अति मनोहर थी बनती कभी ।
बज किसी कटि की कलकिंकिणी ।।३३।।

इधर था इस भाँति समा बँधा ।
उधर व्योम हुआ कुछ और ही ।
अब न था उसमें रवि राजता ।
किरण भी न सुशोभित थी कहीं ।।३४।।

अरुणिमा - जगती - तल-रंजिनी ।
वहन थी करती अब कालिमा ।
मलिन थी नव-राग-मयी दिशा ।
अवनि थी तमसावृत हो रही ॥३५॥

तिमिर की यह भूतल - व्यापिनी ।
तरल - धार विकाश - विरोधिनी ।
जन - समूह - विलोचन के लिये ।
बन गई प्रति-मूर्ति विराम की ॥३६॥

द्युतिमती उतनी अब थी नहीं ।
नयन की अति दिव्य कनीनिका ।
अब नहीं वह थी अवलोकती ।
मधुमयी छवि श्रीघनश्याम की ॥३७॥

यह अभावुकता तम - पुंज की ।
सह सकी न नभस्तल तारिका ।
वह विकाश-विवर्द्धन के लिये ।
निकलने नभ-मंडल में लगी ॥३८॥

तदपि दर्शक - लोचन - लालसा ।
फलवती न हुई तिलमात्र भी ।
यह विलोक विलोचन दीनता ।
सकुचने सरसीरुह भी लगे ॥३९॥

खग - समूह न था अब बोलता ।
विटप थे बहु नीरव हो गये ।
मधुर मंजुल मत्त अलाप के ।
अब न यन्त्र बने तरु-वृन्द थे ॥४०॥

विहग औ विटपी - कुल मौनता ।
प्रकट थी करती इस मर्म्म को ।
श्रवण को वह नीरव थे बने ।
करुण अंन्तिम-वादन वेणु का ।।४१।।

विहग - नीरवता - उपरांत ही ।
रुक गया स्वर श्रृंग विषाण का ।
कल - अलाप समापित हो गया ।
पर रही बजती वर-वंशिका ।।४२।।

विविध - मर्म्मभरी करुणामयी ।
ध्वनि वियोग-विराग-विबोधिनी ।
कुछ घड़ी रह व्याप्त दिगन्त में ।
फिर समीरण में वह भी मिली ।।४३।।

व्रज - धरा - जन जीवन-यन्त्रिका ।
विटप-वेलि - विनोदित - कारिणी ।
मुरलिका जन - मानस - मोहिनी ।
अहह नीरवता निहिता हुई ।।४४।।

प्रथम ही तम की करतूत से ।
छवि न लोचन थे अवलोकते ।
अब निनाद रुके कल - वेणु का ।
श्रवण पान न था करता सुधा ।।४५।।

इस लिये रसना-जन-वृन्द की ।
सरस - भाव समुत्सुकता पगी ।
ग्रथन गौरव से करने लगी ।
व्रज-विभूषण की गुण-मालिका ।।४६।।

जब दशा यह थी जन-यूथ की।
जलज - लोचन थे तब जा रहे।
सहित गोगण गोप-समूह के।
अवनि - गौरव - गोकुल ग्राम में ॥४७॥

कुछ घड़ी यह कान्त क्रिया हुई।
फिर हुआ इसका अवसान भी।
प्रथम थी बहु धूम मची जहाँ।
अब वहाँ बढ़ता सुनसान था ॥४८॥

कर विदूरित लोचन - लालसा।
स्वर-प्रसूत सुधा श्रुति को पिला।
गुण - मयी रसनेन्द्रिय को बना।
गृह गये अब दर्शक-वृन्द भी ॥४९॥

प्रथम थी स्वर की लहरी जहाँ।
पवन में अधिकाधिक गूँजती।
कल अलाप सुलावित था जहाँ।
अब वहाँ पर नीरवता हुई ॥५०॥

विशद - चित्रपटी ब्रजभूमि की।
रहित आज हुई वर - चित्र से।
छवि यहाँ पर अंकित जो हुई।
अहह लोप हुई सब - काल को ॥५१॥

मैथिलीशरण गुप्त

(कुणाल-गीत)

१

तत्त्व तल से ही निकलता,
देख लो, यह रहँट चलता।
चकित हरिणी-सी न चौंको, निकट जाओ, डर नहीं है,
वृषभ-वाहन मुंडमाली वह विकट यह हर नहीं है,
शुद्ध शंकर-रूप है यह, प्रकट प्रलयंकर नहीं है;
शस्य में है वास इसका, घोर मरघट घर नहीं है!
लोक इससे फूल फलता,
देख लो, यह रहँट चलता।
हर-जटा की घन-घटा का घरर घर्घर नहीं है,
मधुर मर्मर से अधिक क्या यह चरर चर्मर नहीं है?
हरि कहूँ वा विधि, झरित क्या सुरसरित झरझर नहीं है?
प्रकट धन्वन्तरि चला क्या अमृत-घट भरभर नहीं है?
दूर हो बाधा-विकलता।
देख लो, यह रहँट चलता।
यन्त्र है यह, पर नहीं कुछ पाप वा उपपाप इसमें,
सहज शीतलता भरी है, फिर रहे क्यों ताप इसमें?
डूब बहता है प्रखरतर काल का अभिशाप इसमें!
खेलता-सा दीखता है आप अपना आप इसमें!
और पालक अन्न पलता।
देख लो, यह रहँट चलता।

धन्य तू अयि यन्त्र-घटिके, क्या करूँ तेरी बड़ाई,
एक साथ उड़ेल सब रीती गई भर लौट आई।
कह, कहाँ आवागमन की यह अनोखी युक्ति पाई,
नियत बन्धन में पड़ी भी मोल-सी तू मुक्ति लाई।
धन्य है तेरी कुशलता!
देख लो, यह रहँट चलता।

२

पानी नहीं, अन्न यह बरसा!
व्यर्थ न गई बूँद भी भू पर, शस्य पुलक-सा सरसा!
हुई रसायन-सिद्धि नई यह,
वह मृण्मयी हिरण्यमयी यह!
कायाकल्प हो गया आहा! किस पारस ने परसा!
पानी नहीं, अन्न यह बरसा!
राजा का यह धर्म पला है,
और प्रजा का पुण्य फला है।
भाग्य भला है आर्यदेश का, जिस पर दिव-सा दरसा!
पानी नहीं, अन्न यह बरसा!
जान न पड़ा, लिया कब, कैसे?
फेर दिया नभ ने अब ऐसे।
ऐसे ही ले कर लौटा दे निज नरनाथ अमर-सा।
पानी नहीं, अन्न यह बरसा!

३

अरी सत्य-शिव-सुन्दर-वाणी!
आराधन करता है तेरा आज अन्ध यह प्राणी।
आ, भरसक उच्चार करूँ मैं,
अपना—सबका शून्य भरूँ मैं।

सुनें इष्ट सन्देश अखिल जन, कर कृतार्थ कल्याणी !
अरी सत्य-शिव-सुन्दर-वाणी !
आकर बैठ मनोरथ पर तू,
मुझे खड़ा कर दे पथ पर तू।
तेरी ध्वनि पर जगती की गति, मेरी वीणापाणी !
अरी सत्य-शिव-सुन्दर-वाणी !

४

पार उतरना है तो तर,
नारायण हो मेरे नर !
यहाँ उसी का स्नेह फला,
जो दीपक सा उजल जला।
यों सबका निर्वाण भला,
अन्तर से ही अन्तर भर।
नारायण हो मेरे नर !
बन्धन जावें, नियम रहें,
भव न बहें, सौ विभव बहें।
दुःख भले, हम जिन्हें सहें।
विचर जहाँ, निर्वैर विचर !
नारायण हो मेरे नर !

५

मैत्री-करुणा में कल्याण,
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।
देश, काल, गुण, कर्म स्वभाव,
ये शाखाओं के अलगाव।
खोलो तनिक मूल - प्रस्ताव,

तोलो साधन के परिमाण !
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।
आकृति, वर्ण और बहु वेष,
ये सब निज वैचित्र्य विशेष।
डालो अन्तर्दृष्टि निमेष,
देखो अहा ! एक ही प्राण,
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।
वाद विनोद बनें प्रत्यक्ष,
रहें विभिन्न हमारे पक्ष,
एक मोक्ष ही सबका लक्ष,
करो उसी की ओर प्रयाण।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।
रुचिमूलक मानस के मन्थ,
भिन्न भिन्न अपने मत-पन्थ।
रहें अनेक अपार्थिव ग्रन्थ,
मिलें एक के लाख प्रमाण।
विश्व-बन्धुता में ही त्राण।

६

चाहता हूँ क्यों सबका त्राण ?
स्वार्थ हेतु, सबका होगा तो मेरा भी कल्याण।
न हो अपव्यय इस जीवन का,
क्या उपयोग करूँ मैं तन का।
आ सकते हैं काम किसी के क्या ये आकुल प्राण ?
चाहता हूँ मैं सबका त्राण।
मैं असमर्थ अन्ध हूँ लोगो,
मेरे लिए और दुक भोगो।

अपना मरण मुझे दे दो तो पा जाऊँ निर्वाण!
चाहता हूँ मैं सबका त्राण।

७

रह मरण, फिर आ गया मैं!
देख जीवन ही अमर है, जन्म फिर यह पा गया मैं।
मीत, उलटी क्यों कहूँ मैं, सरल-सीधी रीति तेरी;
भीत आप स्वकर्म से तू, भीति ही है नीति तेरी।
गलित जो हममें हुआ, गावे भले गुण-गीति तेरी,
पा सकी प्रत्यय कहाँ वह प्रीति और प्रतीति तेरी?
मात्र परिवर्त्तन जहाँ था व्यर्थ धोखा खा गया मैं।
रह मरण फिर आ गया मैं!
निज रसों का कोश-शोषण देखता था काल से मैं,
और अपने को जला-सा जानता था ज्वाल से मैं!
क्यों न बचता फिर यहाँ तुझ-से कठोर-कराल से मैं?
किन्तु कह, अब भी डरूँ क्या तुच्छ तेरे जाल से मैं?
हृत धरा-धन उठ गगन में अमृत-घन बन छा गया मैं,
रह मरण, फिर आ गया मैं!
स्मरण रख, तेरे नहीं, भवितव्य मेरे हाथ मेरा,
जीर्ण पर तू जी न क्यों, नव भव्य मेरे हाथ मेरा।
फल कहीं हो, पर यहाँ कर्त्तव्य मेरे हाथ मेरा,
मुक्ति-मख में होमने को हव्य मेरे हाथ मेरा,
भा गई निज बलि मुझे है और उसको भा गया मैं,
रह मरण, फिर आ गया मैं!
मान तू ईर्ष्या भले, मैं द्वेष क्यों तुझसे करूँगा?
निज विजय तुझ पर तुझीसे भेंट लेकर भव तरूँगा?

काल-फणि, तेरा विषम विष घूँट जब घट में भरूँगा
हार-सा मणिधर, तुझे तब इस हृदय पर मैं धरूँगा,
और जानूँगा तभी—बढ़ गर्भ-भय-गढ़ ढा गया मैं,
रह मरण, फिर आ गया मैं!

८

अर्पित हो मेरा मनुज - काय,
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

छोड़े मैंने सब राज-पाट,
मैं नहीं चाहता ठाठ - बाट।
घूमूँ अब घर घर, घाट घाट,
दूँ सुगत-गिरा का दिव्य-दाय,
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

सुख भोग चुका मैं जाग जाग,
दें दुःखी अब निज दुःख-भाग।
रोदन पर वारे जायँ राग,
यह जाता जीवन क्यों न जाय—
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

हे जन, अर्जन से मुहँ न मोड़,
मिल सके जहाँ जितना, न छोड़।
घर भर ले सब कुछ जोड़ जोड़,
पर यह तो कह, किस हेतु हाय!
'बहुजन-हिताय, बहुजन-सुखाय।'

(यशोदा)

मेरे भीतर तू बैठा है,
बाहर तेरी माया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
मेरे पति कितने उदार हैं,
गद्गद हूँ यह कहते—
रानी - सी रखते हैं मुझको,
स्वयं सचिव-से रहते।
इच्छा कर, झिड़कियाँ परस्पर
हम दोनों हैं सहते,
थपकी-से हैं अहा! थपेड़े,
प्रेम-सिन्धु में बहते।
पूर्णकाम मैं, बनी रहे बस
तेरी छत्रच्छाया;
तेरा दिया राम सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
जिये बाल-गोपाल हमारा,
वह कोई अवतारी;
नित्य नये उसके चरित्र हैं,
निर्भय विस्मयकारी।
पड़े उपद्रव की भी उसके
कब-किसके घर वारी,

उलही पड़ती आप, उलहना
लाती है जो नारी।
उतर किसी नभ का मृगांक-सा
इस आँगन में आया ;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
गायक बन बैठा वह, मुझसे
रोता कंठ मिला के ;
उसे सुलाती थी हाथों पर
जब मैं हिला हिला के।
जीने का फल पा जाती हूँ
प्रतिदिन उसे खिला के ;
मरना तो पा गई पूतना,
उसको दूध पिला के !
मन की समझ गया वह समझो,
जब तिरछा मुसकाया !
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
खाये बिना मार भी मेरी
वह भूखा रहता है !
कुछ ऊधम करके तटस्थ-सा
मौन भाव गहता है।
आते हैं कल-कल सुन कर वे,
तो हँस कर कहलाता है—
'देखो यह झूठा झुँझलाना,
क्या सहता-सहता है !'

हँस पड़ते हैं साथ साथ ही
हम दोनों पति-जाया ;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
मैं कहती हूँ—बरजो इसको,
नित्य उलहना आता,
घर की खाँड़ छोड़ यह बाहर
चोरी का गुड़ खाता।
वे कहते हैं—'आ मोहन, अब
अकरी तेरी माता ;
स्वादु बदलने को न अन्यथा
मुझे बुलाया जाता !'
वह कहता है—'तात, कहाँ-कब
मैंने खट्टा खाया।'
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
मेरे श्याम सलोने की है,
मधु से मीठी बोली,
कुटिल अलक वाले की आकृति
है क्या भोली-भोली !
मृग-से दृग हैं, किन्तु अनी-सी
तीक्ष्ण दृष्टि अनमोली,
बड़ी कौन-सी बात न उसने
सूक्ष्म बुद्धि पर तोली।
जन्मे जन्म का विद्या-बल है
संग संग वह लाया ;

तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
उसका लोकोत्तर साहस सुन,
प्राण सूख जाता है;
किन्तु उसी क्षण उसके यश का
नूतन रस पाता है।
अपनों पर उपराग देख कर
वह आगे आता है;
उलझ नाग से, सुलझ आग से,
विजय-भाग लाता है।
'धन्य कन्हैया, तेरी मैया!'
आज यही रव छाया,
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
काली-दह में तू क्यों कूदा,
डाँटा तो हँस बोला—
"तू कहती थी-'और चुराना
तुम मक्खन का गोला।
छींके पर रख छोड़ेंगी सब
अब भिड़-भरा मठोला!'
निकल उड़ीं वे भिड़ें प्रथम ही;
भाग बचा मैं भोला!"
बलि जाऊँ! वंचक ने उलटा
मुझको दोष लगाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

उसे व्यापती है तो केवल
यही एक भय-बाधा—
"कह दूँगी, खेलेगी तेरे
संग न मेरी राधा।
भूल जायगा नाच-कूद सब
धरी रहेगी धा-धा।
हुआ तनिक उसका मुहँ भारी
और रहा तू आधा!"
अर्थ बताती है राधा ही,
मुरली ने क्या गाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
बना रहे बृन्दावन मेरा,
क्या है नगर नगर में!
मेरा सुरपुर बसा हुआ है
व्रज की डगर-डगर में।
प्रकट सभी कुछ नटनागर की
जगती जगर-मगर में;
कालिन्दी की लहर बसी है
क्या अब अगर-तगर में।
चाँदी की चाँदनी, धूप में
जातरूप लहराया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
अहा! घास में भी सुवास है,
भूमि हरी जब मेरी;

गायों - भरा गोठ, गायें हैं,
दूध - भरी सब मेरी।
बनी गिरस्ती क्षीरोदधि की
पूर्ण तरी अब मेरी।
मैं तेरी चेरी, पर पटतर
कौन नरी कब मेरी?
गर्व नहीं, यह कृतज्ञता है,
मैंने जिसे जनाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।
बाहर मैं जन-मान्य और धन-
धान्य - पूर्ण घर मेरा;
पाया है, तब देने को भी
प्रस्तुत है कर मेरा।
लहराता है गहरा गहरा
यह मानस-सर मेरा;
वही मराल बना है इसमें,
जो इन्दीवर मेरा।
मुक्ति शुक्ति-सी पली युक्ति ले,
भुक्ति-भोग मन-भाया;
तेरा दिया राम, सब पावें,
जैसा मैंने पाया।

जयशंकर 'प्रसाद'

(श्रद्धा)

"कौन तुम ? संसृति-जलनिधितीर
तरंगों से फेंकी मणि एक,
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?
मधुर विश्रान्त और एकान्त—
जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य !"

सुना यह मनु ने मधु-गुंजार
मधुकरी का सा जब सानन्द,
किये मुख नीचा कमल समान
प्रथम कवि का ज्यों सुन्दर छन्द;
एक झिटका सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत ?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।
और देखा वह सुन्दर दृश्य
नयन का इन्द्रजाल अभिराम;
कुसुम-वैभव में लता समान
चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया, उन्मुक्त;
मधु पवन क्रीड़ित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।
मसृण गांधार देश के, नील
रोमवाले मेषों के चर्म
ढँक रहे थे उसका वपु कान्त
बन रहा था वह कोमल वर्म।
नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-बन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम—
बीच जब घिरते हों घनश्याम;
अरुण रवि मंडल उनको भेद
दिखाई देता तो छवि-धाम।
या कि, नव इन्द्र नील लघु शृंग
फोड़कर धधक रही हो कान्त;
एक लघु ज्वालामुखी अचेत
माधवी रजनी में अश्रान्त।
घिर रहे थे घुंघराले बाल
अंस अवलम्बित मुख के पास
नील घन-शावक से सुकुमार
सुधा भरने को विधु के पास।
और उस मुख पर वह मुसक्यान!
रक्त किसलय पर ले विश्राम

अरुण की एक किरण अम्लान
अधिक अलसाई हो अभिराम।
नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
विश्व की करुण कामना मूर्त्ति;
स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।
उषा की पहिली लेखा कान्त,
माधुरी से भींगी भर मोद;
मद भरी जैसे उठे सलज्ज
भोर की तारक द्युति की गोद।
कुसुम कानन अंचल में मन्द
पवन प्रेरित सौरभ साकार,
रचित परमाणु पराग शरीर
खड़ा हो ले मधु का आधार।
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु-राका मन की साध;
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अबाध!
कहा मनु ने, "नभ धरणी बीच
बना जीवन रहस्य निरुपाय;
एक उल्का सा जलता भ्रान्त
शून्य में फिरता हूँ असहाय।
शैल निर्झर न बना हतभाग्य
गल नहीं सका जो कि हिम खंड;
दौड़कर मिला न जलनिधि अंक
आह! वैसा ही हूँ पाषंड।

पहेली सा जीवन है व्यस्त
उसे सुलझाने का अभिमान,
बताता है विस्मृति का मार्ग
चल रहा हूँ बनकर अनजान।
भूलता ही जाता दिन रात
सजल अभिलाषा कलित अतीत;
बढ़ रहा तिमिर गर्भ में नित्य,
दीन जीवन का यह संगीत।
क्या कहूँ, क्या हूँ मैं उद्भ्रान्त?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा सा राज।
एक विस्मृति का स्तूप अचेत,
ज्योति का धुँधला सा प्रतिबिम्ब;
और जड़ता की जीवन राशि
सफलता का संकलित विलम्ब।
कौन हो तुम वसन्त के दूत
विरस पतझड़ में अति सुकुमार!
घन तिमिर में चपला की रेख
तपन में शीतल मन्द बयार।
नखत की आशा किरण समान
हृदय के कोमल कवि की कान्त—
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शान्त!'
लगा कहने आगन्तुक व्यक्ति
मिटाता उत्कंठा सविशेष;

दे रहा हो कोकिल सानन्द
सुमन को ज्यों मधुमय सन्देश-
'भरा था मन में नव उत्साह
सीख लूँ ललित कला का ज्ञान
इधर रह गन्धर्वों के देश
पिता की हूँ प्यारी सन्तान।
घूमने का मेरा अभ्यास,
बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य;
कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।
दृष्टि जब जाती हिम गिरि ओर
प्रश्न करता मन अधिक अधीर,
धरा की यह सिकुड़न भयभीत
आह कैसी है? क्या है पीर?
मधुरिमा में अपनी ही मौन,
एक सोया सन्देश महान,
सजग हो करता था संकेत;
चेतना मचल उठी अनजान।
बढ़ा मन और चले ये पैर,
शैल मालाओं का शृंगार;
आँख की भूख मिटी यह देख
आह कितना सुन्दर सम्भार!
एक दिन सहसा सिन्धु अपार
लगा टकराने नग तल क्षुब्ध;
अकेला यह जीवन निरुपाय
आज तक घूम रहा विश्रब्ध।

यहाँ देखा कुछ बलि का अन्न
भूत-हित-रत किसका यह दान !
उधर कोई है अभी सजीव
हुआ ऐसा मन में अनुमान।
तपस्वी ! क्यों इतने हो क्लान्त ?
वेदना का यह कैसा वेग ?
आह ! तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग !
हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवन की निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश !
दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान,
काम से झिझक रहे हो आज,
भविष्यत् से बनकर अनजान।
कर रही लीलामय आनन्द,
महा चिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम
इसी में सब होते अनुरक्त।
काम मंगल से मंडित श्रेय
सर्ग, इच्छा का है परिणाम;
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भवधाम।
"दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात;

एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात।
जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल;
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल;
विषमता की पीड़ा से व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान;
यही दुख सुख विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान।
नित्य समरसता का अधिकार
उमड़ता कारण जलधि समान;
व्यथा से नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान?
लगे कहने मनु सहित विषाद—
"मधुर मारुत से ये उच्छ्वास
अधिक उत्साह तरंग अबाध
उठाते मानस में सविलास।
किन्तु जीवन कितना निरुपाय!
लिया है देख नहीं सन्देह
निराशा है जिसका परिणाम
सफलता का वह कल्पित गेह।"
कहा आगन्तुक ने सस्नेह—
'अरे तुम इतने हुए अधीर!
हार बैठे जीवन का दाँव
जीतते मरकर जिसको वीर।

तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद ;
तरल आकांक्षा से है भरा
सो रहा आशा का आह्लाद।
प्रकृति के यौवन का शृंगार
करेंगे कभी न बासी फूल ;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक हैं उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल एक ;
नित्य नूतनता का आनन्द
किये है परिवर्त्तन में टेक।
युगों की चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गम्भीर ;
देव, गन्धर्व, असुर की पंक्ति
अनुसरण करती उसे अधीर।
"एक तुम, यह विस्तृत भूखंड
प्रकृति वैभव से भरा अमन्द ;
कर्म का भोग, भोग का कर्म
यही जड़ का चेतन आनन्द।
अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार ?
तपस्वी ! आकर्षण से हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।
दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलम्ब ;

तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब ?
समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद तल में विगत विकार।
दया, माया, ममता लो आज,
मधुरिमा लो, अगाध विश्वास;
हमारा हृदय रत्न निधि स्वच्छ
तुम्हारे लिये खुला है पास।
बनो संसृति के मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी वह बेल;
विश्व भर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।
"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
"शक्तिशाली हो, विजयी बनो"
विश्व में गूँज रहा जय गान।
"डरो मत अरे अमृत सन्तान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि;
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।
देव असफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटाकर आज;
पड़ा है बन मानव सम्पत्ति
पूर्ण हो मन का चेतन राज।

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य;
विश्व के हृदय-पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।
विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण;
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानन्द;
आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।
जलधि के फूटें कितने उत्स
द्वीप, कच्छप डूबें-उतराँय;
किन्तु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्त्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।
विश्व की दुर्बलता बल बने
पराजय का बढ़ता व्यापार।
हँसाता रहे उसे सविलास
शक्ति का क्रीड़ा-मय संचार।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, जो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

(यमुना के प्रति)

स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
पल्लव छाया में अम्लान
यौवन की माया-सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान ?
गन्ध लुब्ध किन अलिबालों के
मुग्ध हृदय का मृदु गुंजार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा
जाँच रहा है बारम्बार ?

यमुने तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?

बता कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल-चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर,
किस विनोद की तृपित गोद में
आज पोंछती वे दृग नीर ?

रंजित सहज सरल चितवन में
उत्कंठित सखियों का प्यार
क्या आँसू-सा ढुलक गया वह
विरह विधुर उर का उद्‌गार ?

तू किस विस्मृति की वीणा से
उठ उठकर कातर झंकार
उत्सुकता से उकता उकता
खोल रही स्मृति के दृढ़ द्वार ?—
अलस - प्रेयसी - सी स्वप्नों में
प्रिय की शिथिल सेज के पास
लघु लहरों के मधुर स्वरों में
किस अतीत का गूढ़ विलास ?

उर-उर में नूपुर की ध्वनि-सी
मादकता की तरल तरंग
विचर रही है मौन पवन में
यमुने, किस अतीत के संग ?

किस अतीत का दुर्जय जीवन
अपनी अलकों में सुकुमार
कनक-पुष्प-सा गूँथ लिया है—
किसका है यह रूप अपार ?
निर्निमेष नयनों में छाया
किस विस्मृत-मदिरा का राग
जो अब तक पुलकित पलकों से
छलक रहा यह मृदुल सुहाग ?

मुक्त हृदय के सिंहासन पर
किस अतीत के ये सम्राट
दीप रहे जिनके मस्तक पर
रवि - शशि-तारे - विश्व - विराट ?

निखिल विश्व की जिज्ञासा-सी
आशा की तू झलक, अमन्द
अन्तःपुर की निज शय्या पर
रच-रज मृदु छन्दों के बन्द
किस अतीत के स्नेह-सुहृद को
अर्पण करती तू निज ध्यान—
ताल ताल के कम्पन से द्रुत
बहते हैं वे किसके गान ?

विहगों की निद्रा से नीरव
कानन के संगीत अपार
किस अतीत के स्वप्न-लोक में
करते हैं मृदु पद - संचार ?

मुग्धा की लज्जित पलकों पर
तू यौवन की छवि अज्ञात
आँखमिचौनी खेल रही है
किस अतीत शिशुता के साथ ?
किस अतीत सागर-संगम को
बहते खोल हृदय के द्वार
बोहित के हित सरल अनिल-से
नयन-सलिल के स्रोत अपार ?

उस सलज्ज ज्योत्स्ना सुहाग की
फेनिल शय्या पर सुकुमार,
उत्सुक किस अभिसार निशा में
गई कौन स्वप्निल पर मार ?

उठ-उठकर अतीत - विस्मृति से
किसकी स्मिति यह—किसका प्यार
तेरे श्याम कपोलों में खुल
कर जाती है चकित विहार ?
जीवन की इस सरस सुरा में,
कह यह किसका मादक राग
फूट पड़ा तेरी ममता में
जिसकी समता का अनुराग

किस नियमों के निर्मम बन्धन
जग की संसृति का परिहास
कर बन जाते करुणा-क्रन्दन ?—
कह, वे किसके निर्दय पाश ?

कलियों की मुद्रित पलकों में
सिसक रही जो गन्ध अधीर
जिसकी आतुर दुख-गाथा पर
ढुलकाते पल्लव - दृग नीर,
बता, करुण-कर-किरण बढ़ाकर
स्वप्नों का सचित्र संसार
आँसू पोंछ दिखाया किसने
जगती का रहस्यमय द्वार ?

जागृति के नव इस जीवन में
किस छाया का माया मन्त्र
गूँज गूँज मृदु खींच रहा है
अलि, दुर्बल जन का मन-यन्त्र ?

अलि-अलकों के तरल-तिमिर में
किसकी लोल लहर अज्ञात
जिसके गूढ़ मर्म में निश्चित
शशि-सा मुख ज्योत्स्ना-सी गात ?
कह, सोया किस खंजन-वन में
उन नयनों का अंजन - राग
बिखर गये अब किन पातों में
ये कदम्ब - मुख - स्वर्ण - पराग ?

चमक रहे अब किन तारों में
उन हारों के मुक्ता-हीर ?
बजते हैं उन किन चरणों में
अब अधीर नूपुर - मंजीर ?

किस समीर से काँप रही वह
वंशी की स्वर-सरित-हिलोर ?
किस वितान से तनी प्राण तक
छू जाती वह करुण मरोर ?
खींच रही किस आशा-पथ पर
यौवन की वह प्रथम पुकार ?
सींच रही लालसा - लता निज
किस कंकण की मृदु झंकार ?

उमड़ चला है कह किस तट पर
क्षुब्ध प्रेम का पारावार?
किसकी विकच वीचि-चितवन पर
अब होता निर्भय अभिसार?

भटक रहे हैं किसके मृग - दृग?
बैठी पथ पर कौन निराश?—
मारी मरु - मरीचिका की - सी
ताक रही उदास आकाश
हिला रहा अब कुंजों के किन
द्रुम-पुंजों का हृदय कठोर
विगलित विफल वासनाओं से
क्रन्दन-मलिन पुलिन का रोर?

किस प्रसाद के लिये बढ़ा अब
उन नयनों का विरस विषाद?
किस अजान में छिपा आज वह
श्याम गगन का घन उन्माद?

कह, किस अलस मराल-चाल पर
गूँज उठे सारे संगीत
पद - पद के लघु ताल ताल पर
गति स्वच्छन्द, अजीत अभीत?
स्मृति - विकसित नीरज नयनों पर
स्वर्ण किरण रेखा अम्लान
साथ साथ प्रिय तरुण अरुण के
अन्धकार में छिपी अजान!

किस दुर्गम गिरि के कन्दर में
डूब गया जग का निःश्वास
उतर रहा अब किस अरण्य पर
दिनमणि-हीन अस्त आकाश ?

आप आ गया प्रिय के कर में
कह, किसका वह कर सुकुमार
विटप-विहग ज्यों फिरा नीड़ में
सहम तमिस्त्र देख संसार ?
स्मर-सर के निर्मल अन्तर में
देखा था जो शशि प्रतिभात
छिपा लिया है उसे जिन्होंने
हैं वे किस घन वन के पात ?

कहाँ आज वह निद्रित जीवन
बँधा बाहुओं में भी मुक्त ?
कहाँ आज वह चितवन चेतन
श्याम - मोह - कज्जल अभियुक्त ?

वह नयनों का स्वप्न मनोहर
हृदय-सरोवर का जल जात,
एक चन्द्र निस्सीम व्योम का,
वह प्राची का विमल प्रभात,
वह राका की निर्मल छवि, वह
गौरव रवि, कवि का उत्साह,
किस अतीत से मिला आज वह
यमुने, तेरा सरस प्रवाह ?

खींच रहा है मेरा मन वह
किस अतीत का इंगित मौन
इस प्रसुप्ति से जगा रही जो
बता, प्रिया-सी है वह कौन ?

वह अविकार निविड़-सुख-दुख-गृह,
वह उच्छृंखलता उद्दाम,
वह संसार भीरु - दृग - संकुल
ललित - कल्पना - गति अभिराम
वह वर्षों का हर्षित क्रीड़न,
पीड़न का चंचल संसार,
वह विलास का लास-अंक, वह
भृकुटि कुटिल प्रिय-पथ का पार ;

वह जागरण मधुर अधरों पर
वह प्रसुप्त नयनों में लीन,
मुग्ध मौन में उन्मुख सुख ;
आकर्षण मय नित्य नवीन,

वह सहसा सजीव-कम्पन द्रुत
सुरभि समीर, अधीर वितान
वह सहसा स्तम्भित वक्ष-स्थल,
टलमल पद, प्रदीप निर्वाण ;
गुप्त-रहस्य - सृजन - अतिशय श्रम,
वह क्रम क्रम से संचित ज्ञान,
स्खलित-वसन तनु-सा तनु-अमरण,
नम्र उदास, व्यथित अभिमान,

वह मुकुलित लावण्य लुप्त-मधु,
सुप्त पुष्प में विकल विकास,
वह सहसा अनुकूल प्रकृति के
प्रिय दुकूल में प्रथम - प्रकाश ;

वह अभिराम कामनाओं का
लज्जित उर, उज्ज्वल विश्वास,
वह निष्काम दिवा-विभावरी,
वह स्वरूप - मद - मंजुल हास ;
वह सुकेश-विस्तार कुंज में
प्रिय का अति उत्सुक सन्धान,
तारों के नीरव समाज में
यमुने, वह तेरा मृदु गान ;

वह अतृप्त आग्रह से सिंचित
विरह-विटप का मूल मलीन
अपने ही फूलों से वंचित
वह गौरव-कर निष्प्रभ क्षीण ;

वह निशीथ की नम्र वेदना,
दिन की दम्य दुराशा आज
कहाँ अँधेरे का प्रिय परिचय
कहाँ दिवस की अपनी लाज ?
उदासीनता गृह-कर्मों में,
मर्म-मर्म में विकसित स्नेह,
निरपराध हाथों में छाया
अंजन - रंजन - भ्रम, सन्देह ;

विस्मृति पथ-परिचायक स्वर से
छिन्न हुए सीमा - दृढ़ पाश,
ज्योत्स्ना के मंडप ये निर्भय
कहाँ हो रहा है वह रास ?

वह कटाक्ष - चंचल यौवन - मन
वन - वन प्रिय अनुसरण-प्रयास,
वह निष्पलक सहज चितवन पर
प्रिय का अचल अटल विश्वास ;
अलक-सुगन्ध-मदिर सरि शीतल
मन्द अनिल, स्वच्छन्द प्रवाह,
वह विलोल हिल्लोल चरण, कटि
भुज - ग्रीव का वह उत्साह ;

मत्त भृंग सम संग - संग तम-
तारा - मुख - अम्बुज - मधु लुब्ध
विकल-विलोड़ित चरण अंक पर
शरण विमुख नूपुर-उर क्षुब्ध;

वह संगीत-विजय मद गर्वित
नृत्य-चपल अधरों पर आज
वह अजीत इंगित मुखरित-मुख
कहाँ आज वह सुखमय साज ?
वह अपनी अनुकूल प्रकृति का
फूल, वृन्त पर विकच अधीर,
वह उदार संवाद विश्व का
वह अनन्त नयनों का नीर

वह स्वरूप-मध्याह्न-तृषा का
प्रचुर आदि रस वह विस्तार
सफल प्रेम का, जीवन के वह
दुस्तर सर-सागर का पार;

वह अंजलि कलिका की कोमल
वह प्रसून की अन्तिम दृष्टि,
वह अनन्त का ध्वंस सान्त वह
सान्त विश्व की अगणित सृष्टि;
वह विराम-अलसित पलकों पर
सुधि की चंचल प्रथम तरंग,
वह उद्दीपन वह मृदु कम्पन
वह अपनापन, वह प्रिय-संग

वह अज्ञात पतन लज्जा का
स्खलन शिथिल घूँघट का देख
हास्य मधुर निर्लज्ज उक्ति वह,
वह नव यौवन का अभिषेक;

मुग्ध रूप का वह क्रय-विक्रय
वह विनियम का निर्दय भाव,
कुटिल करों को सौंप सुहृद-मन,
वह विस्मरण, मरण वह चाव,
असफल छल की सरल कल्पना
ललनाओं का मृदु उद्गार
बता, कहाँ विक्षुब्ध हुआ वह
दृढ़ यौवन का पीन उभार;

उठा तूलिका मृदु चितवन की
भर मन की मदिरा में मौन;
निर्निमेष नभ-नील-पटल पर
अटल खींचती छवि वह कौन?

कहाँ कहाँ अस्थिर तृष्णा का
बहता अब वह स्रोत अजान?
कहाँ हाय निरुपाय तृणों से
बहते अब वे अगणित प्राण?
नहीं नहीं नयनों में पाया
यहाँ समाया वह अपराध,
कहाँ कहाँ अधिकृत अधरों पर
उठता वह संगीत अबाध?

मिली विरह के दीर्घ श्वास से
बहती नहीं कहीं वातास,
कहाँ सिसक कर मलिन मर्म में
मुरझा जाता है निःश्वास?

कहाँ छलकते अब वैसे ही
व्रज-नागरियों के गागर?
कहाँ भीगते अब वैसे ही
बाहु उरोज, अधर, अम्बर?
बँधा बाहुओं में घट क्षण-क्षण
कहाँ प्रकट बकता अपवाद?
अलकों को, किशोर पलकों को
कहाँ वायु देती संवाद?

कहाँ कनक कोरों के नीरव
अश्रु - कणों में भर मुसकान,
विरह मिलन के एक साथ ही
खिल पड़ते वे भाव महान !

कहाँ सूर के रूप-बाग़ के
दाड़िम, कुन्द, विकच अरविन्द
कदली, चम्पक, श्रीफल, मृग शिशु
खंजन, शुक, पिक, हंस, मिलिन्द !
एक रूप में कहाँ आज वह
हरि - मृग का निर्वैर विहार,
काले नागों से मयूर का
बन्धु - भाव सुख सहज अपार !

पावस की प्रगल्भ धारा में
कुंजों का वह कारागार
अब जग के विस्मृति - नयनों में
दिवस स्वप्न सा पड़ा असार ।

द्रव नीहार अचल ! अधरों से
गल-गल गिरि-उर के सन्ताप
तेरे तट के अटक रहे थे
करते अब सिर पटक विलाप
विवश दिवस के से आवर्त्तन
बढ़ते हैं अम्बुद की ओर,
फिर फिर फिर भी ताक रहे हैं
कोरों में निज नयन मरोर !

एक रागिनी रह जाती जो
तेरे तट पर मौन उदास,
स्मृति-सी भग्न भवन की, मन को
दे जाती अति क्षीण प्रकाश।

टूट रहे हैं पलक - पलक पर
तारों के ये जितने तार
जग के अब तक के रागों से
जिनमें छिपा पृथक् गुंजार,
उन्हें खींच निस्सीम व्योम की
वीणा में कर कर झंकार,
गाते हैं अविचल आसन पर
देव-दूत जो गीत अपार

कम्पित उनके करुण करों में
तारक तारों की-सी तान
बता, बता, अपने अतीत के
क्या तू भी गाती है गान?

(भर देते हो)

भर देते हो
बार-बार प्रिय, करुणा की किरणों से
क्षुब्ध हृदय को पुलकित कर देते हो।
मेरे अन्तर में आते हो देव निरन्तर,

कर जाते हो व्यथा-भार लघु
बार-बार कर-कंज बढ़ाकर ;
अन्धकार में मेरा रोदन
सिक्त धरा के अंचल को
करता है क्षण-क्षण—
कुसुम-कपोलों पर वे लोल शिशिर-कण;
तुम किरणों से अश्रु पोंछ लेते हो,
नव प्रभात जीवन में भर देते हो।

(जागो फिर एक बार)

जागो फिर एक बार !
समर अमर कर प्राण,
गान गाए महासिन्धु - से
सिन्धु - नद - तीरवासी !—
सैन्धव तुरंगों पर
चतुरंग चमू संग ;
"सवा सवा लाख पर
एक को चढ़ाऊँगा,
गोविन्द सिंह निज
नाम जब कहाऊँगा।
किसने सुनाया यह
वीर - जन - मोहन अति
दुर्जय संग्राम - राग,

फाग का खेला रण
बारहों महीनों में ?—
शेरों की माँद में
आया है आज स्यार—
जागो फिर एक बार !
सत् श्री अकाल,
भाल-अनल धक धक कर जला ;
भस्म हो गया था काल—
तीनों गुण – ताप – त्रय,
अभय हो गए थे तुम
मृत्युंजय व्योमकेश के समान,
अमृत – सन्तान ! तीव्र
भेदकर सप्तावरण-मरण लोक ,
शोकहारी ! पहुँचे थे वहाँ
जहाँ आसन है सहस्रार—
जागो फिर एक बार !
सिंह की गोद से
छीनता है शिशु कौन ?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण ? रे अजान !
एक मेष माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह—
छिनती सन्तान जब
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आँसू बहाती है ;—

किन्तु क्या,
योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार बार
जागो फिर एक बार !
पशु नहीं, वीर तुम,
समर - शूर, क्रूर नहीं,
काल - चक्र में हो दबे
आज तुम राज-कुँवर !—समर-सरताज !
पर, क्या है,
यह माया है—माया है,
मुक्त हो सदा ही तुम,
बाधा-विहीन-बन्ध छन्द ज्यों,
डूबे आनन्द में सच्चिदानन्द-रूप ।
महामन्त्र ऋषियों का
अणुओं परमाणुओं में फूँका हुआ—
"तुम हो महान्, तुम सदा हो महान्,
है नश्वर यह दीन भाव,
कायरता, कामपरता,
ब्रह्म हो तुम
पद-रज भर भी है नहीं पूरा यह विश्व-भार—"
जागो फिर एक बार !

(बादल-राग)

(१)

ऐ निर्बन्ध !—
अन्ध-तम-अगम-अनर्गल-बादल !
ऐ स्वच्छन्द !—
मन्द-चंचल-समीर-रथ पर उच्छृंखल !
ऐ उद्दाम !
अपार कामनाओं के प्राण !
बाधा रहित विराट !
ऐ विप्लव के प्लावन !
सावन घोर गगन के
ऐ सम्राट !
ऐ अटूट पर छूट टूट पड़नेवाले—उन्माद !
विश्व-विभव को लूट-लूट लड़नेवाले—अपवाद !
श्री बिखेर मुख-फेर कली के निष्ठुर-पीड़न !
छिन्न-भिन्न कर पत्र-पुष्प-पादप-वन-उपवन,
वज्र-घोष से ऐ प्रचंड !
आतंक जमानेवाले !
कम्पित जंगम, – नीड़ विहंगम
ऐ न व्यथा पानेवाले !
भय के मायामय आँगन पर
गरजो विप्लव के नव जलधर !

(२)

सिन्धु के अश्रु !
धरा के खिन्न दिवस के दाह !
विदाई के अनिमेष नयन !

मौन उर में चिह्नित कर चाह
छोड़ अपना परिचित संसार
सुरभि का कारागार,
चले जाते हो सेवा-पथ पर
तरु के सुमन !
सफल करके
मरीचिमाली का चारु चयन।
स्वर्ग के अभिलाषी हे वीर,
सव्यसाची-से तुम अध्ययन अधीर,
अपना मुक्त विहार,
छाया में दुख के अन्तःपुर का उद्घाटित द्वार
छोड़ बन्धुओं के उत्सुक नयनों का सच्चा प्यार
जाते हो तुम अपने पथ पर,
स्मृति के गृह में रखकर
अपनी सुधि के सज्जित तार।
पूर्ण-मनोरथ ! आए,—
तुम आए;
रथ का घर्घर-नाद
तुम्हारे आने का संवाद।
ऐ त्रिलोक-जित ! इन्द्र-धनुर्धर !
सुरबालाओं के सुख-स्वागत !
विजय ! विश्व में नव जीवन भर,
उतरो अपने रथ से भारत !
उस अरण्य में बैठी प्रिया अधीर,
कितने पूजित दिन अब तक हैं व्यर्थ,
मौन कुटीर।

आज भेंट होगी—
हाँ होगी निस्सन्देह,
आज सदा-सुख-छाया होगा कानन-गेह
आज अनिश्चित पूरा होगा श्रमित प्रवास,
आज मिटेगी व्याकुल श्यामा के अधरों की प्यास।

(२)

उमड़ सृष्टि के अन्तरहीन अम्बर से,
घर से क्रीड़ारत बालक-से,
ऐ अनन्त के चंचल शिशु सुकुमार !
स्तब्ध गगन को करते हो तुम पार।
अन्धकार—घन अन्धकार ही
क्रीड़ा का आगार।
चौंक चमक छिप जाती विद्युत्
तड़िद्दाम अभिराम,
तुम्हारे कुंचित केशों में
अधीर विक्षुब्ध ताल पर
एक इमन का सा अति मुग्ध विराम !
वर्ण रश्मियों से कितने ही
छा जाते हैं मुख पर—
जग के अन्तस्तल से उमड़
नयन-पल्लवों पर छाये सुख पर ;
रंग अपार
किरण तूलिकाओं से अंकित
इन्द्र-धनुप के सप्तक, तार ;—
व्योम और जगती का राग उदार

मध्य देश में, गुड़ाकेश !
गाते हो बारम्बार ।
मुक्त ! तुम्हारे मुक्त कण्ठ में
स्वरारोह, अवरोह, विघात,
मधुर मन्द, उठ पुनः पुनः ध्वनि
छा लेती है गगन श्याम कानन,
सुरभित उद्यान,
झर-झर-रव भूधर का मधुर प्रपात ।
बधिर विश्व के कानों में
भरते हो अपना राग
मुक्त शिशु ! पुनः पुनः एक ही राग अनुराग ।

(४)

तिरती है समीर-सागर पर
अस्थिर सुख पर दुख की छाया—
जग के दग्ध हृदय पर
निर्दय विप्लव की प्लावित माया
यह तेरी रण-तरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन, भेरी-गर्जन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नव जीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल !
फिर फिर ।

बार बार गर्जन
वर्षण है मूसलधार,
हृदय थाम लेता संसार,

सुन सुन घोर वज्र-हुंकार ।
अशनि-पात से शायित उन्नत शत शत वीर,
क्षत-विक्षत हत अचल शरीर,
गगन-स्पर्शी स्पर्द्धा-धीर ।
हँसते हैं छोटे पौधे लघुभार—
शस्य अपार,
हिल-हिल,
खिल-खिल,
हाथ हिलाते,
तुझे बुलाते,
विप्लव- रव से छोटे ही हैं शोभा पाते ।
अट्टालिका नहीं है रे
आतंक-भवन,
सदा पंक पर ही होता
जल-विप्लव-प्लावन,
क्षुद्र प्रफुल्ल जलज से
सदा छलकता नीर,
रोग-शोक में भी हँसता है
शैशव का सुकुमार शरीर ।
रुद्ध कोष, है क्षुब्ध तोष,
अंगना-अंग से लिपटे भी
आतंक-अंक पर काँप रहे हैं
धनी, वज्र-गर्जन से बादल !
त्रस्त नयन-मुख ढँप रहे हैं ।
जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,

ऐ विप्लव के वीर।
चूस लिया है उसका सार,
हाड़ मात्र ही हैं आधार,
ऐ जीवन के पारावार !

सुमित्रा 'नन्दन पन्त'

(प्रार्थना)

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन !
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन !
बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय धन;
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में,
उर अंगों में सुख यौवन !

छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृन्मरण बाँध दो जग का,
दे प्राणों का आलिंगन !

बरसो सुख बन, सुखमा बन,
बरसो जग जीवन के घन!
दिशि दिशि में औ' पल पल में
बरसो संसृति के सावन!

(बादल)

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के चिर जीवनधर;
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर।

भूमि गर्भ में छिप विहंग-से,
फैला कोमल, रोमिल पंख,
हम असंख्य अस्फुट बीजों में
सेते साँस, छुड़ा जड़ पंक;
विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अंक,
हम फिर क्रीड़ा कौतुक करते,
छा अनंत उर में निःशंक।

कभी चौकड़ी भरते मृग-से
भू पर चरण नहीं धरते,
मत्त मतंगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते;

कभी कीश-से अनिल डाल में
नीरवता से मुँह भरते,
वृहत् गृद्ध-से विहग छदों को
बिखराते नभ में तरते।

कभी अचानक, भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क, कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;
फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में,
पकड़ इन्दु के कर सुकुमार।

अनिल विलोड़ित गगन सिंधु में
प्रलय बाढ़ से चारों ओर
उमड़ उमड़ हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर;
बात बात में, तूल तोम सा
व्योम विटप से झटक, झकोर,
हमें उड़ा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस वातुल चोर।

व्योम विपिन में जब वसंत सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत में
गिर तमाल तम के-से पात;

उदयाचल से बाल हंस फिर
उड़ता अम्बर में अवदात,
फैल स्वर्ण पंखों से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात।

पर्वत से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन, पल में, साकार—
काल चक्र-से चढ़ते, गिरते,
पल में जलधर, फिर जलधार;
कभी हवा में महल बनाकर,
सेतु बाँधकर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव भूति ही-से निस्सार।

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि वसन, वसुधा के मूल;
नभ में अवनि,अवनि में अम्बर
सलिल भस्म, मारुत के फूल
हम ही जल में थल,थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।

व्योम बेलि, ताराओं की गति,
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान;

पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल अनल के विरल वितान,
व्योम पलक, जल खग बहते थल,
अम्बुधि की कल्पना महान।

× ×

धूम धुँआरे, काजर कारे,
हम ही विकरारे बादर,
मदन राज के वीर बहादर,
पावस के उड़ते फणिधर,
चमक झमकमय मन्त्र वशीकर,
छहर घहरमय विष सीकर,
स्वर्ग सेतु-से इन्द्रधनुषधर,
कामरूप घनश्याम अमर।

(आशंका)

"मा ! अल्मोड़े में आए थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग में मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमंद;
बिना पाँवड़े पथ में क्या वे
जननि ! नहीं चल सकते हैं ?
दीपावलि क्यों की ? क्या वे मा !
मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं ?"

"कृष्णे ! स्वामीजी तो दुर्गम
मग में चलते हैं निर्भय,

दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कंटकमय;
वह मखमल तो भक्ति भाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के।"

(उषा-वंदना)

तुम नील वृन्त के नभ के जग,
ऊषे ! गुलाब सी खिल आई !
अलसाई आँखों में भरकर
जग के प्रभात की अरुणाई !

लिपटी तुम तरुण अरुण उर से
लज्जा लाली की सी झाईं !
भू पर उस स्नेह मधुरिमा की
पड़ती सखि, कोमल परछाईं !

तुम जग की स्वप्न शिराओं में
नव जीवन रुधिर सदृश छाईं,
मानस में सोई, भावों की
लो, अखिल कमल कलि मुसकाईं !

आशाऽकांक्षा के कुसुमों से
जीवन की डाली भर लाईं,
जग के प्रदीप में जीवन की
लौ सी उठ, नव छवि फैलाई !

(सन्ध्या तारा)

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर
खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन,
धूसर भुजंग सा जिह्म, क्षीण।
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गभीर।
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर पार।

अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण वस्तु से विश्व हीन।
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग उड़ गया खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा नीड़ में रे किस मग!
मृदु मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील नील, कोमल कोमल,
छाया तरु बन में तम श्यामल।

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमंद नक्षत्र एक!
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर में हो दीपित अमर टेक।

किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिए हुए किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यों रजत सीप !
क्या उसकी आत्मा का चिर धन, स्थिर, अपलक नयनों का चिन्तन,
क्या खोज रहा वह अपनापन !
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन !

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन विवेक !
चिर आकांक्षा से ही थर् थर्, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर !
अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि उडुगण,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ! क्या नीरव नीरव नयन सजल
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल !
एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार !

... ...

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नहीं वह छन्द बन्ध !
वह रे अनन्त का मुक्त मीन अपने असंग सुख में विलीन,
स्थित निज स्वरूप में चिर नवीन ।
निष्कम्प शिखा सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र, वह सम !

... ...

गुंजित अलि सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार,
हलका एकाकी व्यथा भार !
जगमग जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द कलियों से घन,
वह आत्म और यह जग दर्शन !

(वसन्त)

चंचल पग दीपशिखा के धर
गृह, मग वन में आया वसन्त !
सुलगा फाल्गुन का सूनापन
सौन्दर्य शिखाओं में अनन्त !

सौरभ की शीतल ज्वाला से
फैला उर उर में मधुर दाह
आया वसन्त, भर पृथ्वी पर
स्वर्गिक सुन्दरता का प्रवाह !

पल्लव पल्लव में नवल रुधिर,
पत्रों में मांसल रंग खिला,
आया नीली पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला !

अधरों की लाली से चुपके
कोमल गुलाब के गाल लजा,
आया, पंखड़ियों को काले—
पीले धब्बों से सहज सजा !

कलि के पलकों में मिलन स्वप्न,
अलि के अन्तर में प्रणय गान

लेकर आया, प्रेमी वसन्त,—
आकुल जड़ चेतन स्नेह - प्राण

काली कोकिल !—सुलगा उर में
स्वरमयी वेदना का अँगार,
आया वसन्त, घोषित दिगन्त
करती, भर पावक की पुकार !

आः, प्रिये ! निखिल ये रूप रंग
रिल मिल अन्तर में स्वर अनन्त
रचते सजीव जो प्रणय मूर्ति
उसकी छाया, आया वसन्त !

(द्रुत झरो)

द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र !
हे स्रस्त ध्वस्त ! हे शुष्क शीर्ण !
हिम ताप पीत, मधुवात भीत,
तुम वीत राग, जड़, पुराचीन !!

निष्प्राण विगत युग ! मृत विहंग !
जग नीड़ शब्द औ' श्वासहीन,
च्युत, अस्त व्यस्त पंखों से तुम
झर झर अनन्त में हो विलीन !

कंकाल जाल जग में फैले
फिर नवल रुधिर;—पल्लव लाली !
प्राणों के मर्मर से मुखरित
जीवन की मांसल हरियाली !

मंजरित विश्व में यौवन के
जग कर जग का पिक, मतवाली
निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से
भर दे फिर नव युग की प्याली !

(ताज)

हाय ! मृत्यु का ऐसा अमर, अपार्थिव पूजन ?
जब विषण्ण, निर्जीव पड़ा हो जग का जीवन !
संग सौध में हो शृंगार मरण का शोभन,
नग्न, क्षुधातुर, वास विहीन रहें जीवित जन ?
मानव ! ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत औ' छाया से रति !!
प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल, भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग, आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?
गत युग के बहु धर्म रूढ़ि के ताज मनोहर
मानव के मोहान्ध हृदय में किए हुए घर !
भूल गए हम जीवन का सन्देश अनश्वर
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर !

जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

(१)

रविरत्न किरीट धरे
द्युति कुन्तलों की नव
नीरधरों पै लिये ।
श्रुति-भार हितैषी
स्ववादित - वीण
का किन्नरों से
भ्रमरों पै लिये ।
उतरी पड़तीं नभ
से परी सी तुम
स्वर्ण - प्रभात
परों पै लिये ।
किरणों के करों
सरों के जलजात
उषा की हँसी
अधरों पै लिये ॥

(२)

सँग स्वर्ण सुमेरु
को लेके कुबेर
की है नभ
से नगरी उतरी ।

कि त्रिकूट से
सिंधु में स्नान को
सोने की लंक है
शोभा भरी उतरी ।
परिणीता नई
अवधेश के सौध
कि सीता बनी
सँवरी उतरी ।
सुरशाप से
शापिता स्वर्ग से
या पृथिवी पै
प्रभाती परी उतरी ॥

(३)

तम-पावों पै आके
प्रकाश पड़ा,
शशि तारे तला-
तल के तले हैं ।
प्रतिबिम्ब ये सागर
सान्ध्य में हैं
कि अँगारक षाड़व-
के जले हैं ।
इस भाँति से
वारुणी वर्ण-विमग्न
प्रभाकर पश्चिम
में ढले हैं ।

मनों सिन्धु के
सौध विरोध बिसार
मिले जल अग्नि
गले गले हैं ॥

(४)

नीलोत्पला शय्या पर
निद्रित नीहारिका थी,
झरने लगे थे
कल कल गान करने।
उलझे उषा के केश
अपने करों से जब
अलग अलग लगा
अंशुमान करने ।
अम्बर खसित होके
जब ओस अम्बुधि में
सुमनों की सुषमा
लगी थी स्नान करने ।
नाशक वियोग-रोग
अनुपान आनँद से
तब योग - वारुणी
लगा मैं पान करने ॥

(५)

प्रेम - पिपासु को
घोर अशान्ति में
डालके भ्रान्ति की
चाल में मारा ।

वासना - बाग का
चारा दिखाकर
पाकर हाल
बिहाल में मारा ।
वंचना - वीणा
बजाकर मीड़ से
मूर्च्छना में स्वर
ताल में मारा ।
काल ने जीव-
कुरंग को हाय !
फँसाकर जीवन
जाल में मारा ॥

(६)

सहते दुख "पी कहाँ"
"पी कहाँ" - यों
कहते - पपिहा
बिरमा रही है ।
सुखदायी बनी
मधुपायी जनों
के मनों के मयूर
भ्रमा रही है ।
उनके मद - स्रावी
दृगों पर यों
लटकी लट कुंचित
आ रही है ।

मनो अम्बर से
उतरी मधु मन्दिर
पै घनों की घटा
छा रही है ॥

(७)

सब सृष्टि को
देखता हूँ इस दृष्टि में
दिव्यता आला
लिए हुए हूँ ।
रट प्राण में,
ध्यान में रूप
अरूप का ज्ञान
निराला लिए हुए हूँ ।
जिससे है वियोग
सँयोग बना
उर में वह छाला
लिए हुए हूँ ।
तन में भी उजाला
लिए हुए हूँ
इक जाग्रत ज्वाला
लिए हुए हूँ ॥

(८)

वश अन्तक के
हुए हीनता
वैभव शालीनता
सब खोना पड़ा ।

तज भेद को
तुच्छता उच्चता
के है परस्पर
प्रेमिक होना पड़ा।
गृह त्याग के
दोनों ही को
सुनसान मसान का
खोजना कोना पड़ा।
नर को
औ नरेश को शेष में
एक ही धूलि की
सेज पै सोना पड़ा॥

(६)

रंग विरंगे दिशा
विदिशा हैं
निशा दिन के क्षण
हाय रे यौवन।
कान पड़ा फिर
आकुल कोकिल
का कल कूजन
हाय रे यौवन।
कुंज निकुंज में
मुंजित है
फिर से अलिगुंजन
हाय रे यौवन।

उन्मन क्यों मन
ही मन हो रहा
है मन बेमन
हाय रे यौवन ॥

(१०)

सुन्दर सुन्दर ये
मधु की ऋतु
मानव – मोहन
हाय रे यौवन ।
शीतल – शीतल
मन्द सुगन्धित
धीर समीरण
हाय रे यौवन ।
नूतन – नूतन
कोमल – कोमल
कोंपल – कम्पन
हाय रे यौवन ।
व्याकुल – व्याकुल
विह्वल – विह्वल
ये मन बेमन
हाय रे यौवन ॥

(११)

भूत को टाल चुका
जब – तू
तो भविष्य से है
डरना नहीं अच्छा ।

प्राप्त हुए पलों
का सुख भोग
है शोक वृथा
करना नहीं अच्छा।
इष्ट अनिष्ट में
मोद मना उर
आकुलता - भरना
नहीं अच्छा।
सुस्थिर मृत्यु का
है क्षण एक
प्रतिक्षण का
मरना नहीं अच्छा॥

(१२)

पौध नई जिस पै
ममता महा है
इसे से सकूँगा
कि नहीं मैं।
जो इस हाथ से
ले रहा हूँ,
इसी हाथ से
दे सकूँगा कि नहीं मैं।
अन्धड़ में भव-
सिन्धु में नाव
पड़ी इसे खे सकूँगा
कि नहीं मैं।
त्याग के श्वास
विश्वास नहीं

फिर श्वास भी ले
सकूँगा कि नहीं मैं ॥

(१३)

मम अंश में सृष्टि
के आदि से
एक अज्ञान महा
दुखदायी पड़ा ।
नव ज्ञान – विज्ञान
का कोश तो
भाग में मेरे नहीं
एक पाई पड़ा ।
जिसको कहते हैं
विकाश सभी
इस दृष्टि को
ह्रास दिखाई पड़ा ।
मुझको महा नाश
का श्वास प्रश्वास
में भी पथ - चाप
सुनाई पड़ा ॥

(१४)

पल मारे बिना
रहीं पद्मिनियाँ
तकती न प्रभाकर
रोके – रुका ।
न दिवा - पति की
निशि - बाम के धाम

सकाम सुधाकर
रोके – रुका।
सुमनों के वनों
इक आग लगी
पै नहीं कुसुमाकर
रोके – रुका।
सब जाकर ही
जग से रहे कौन
यहाँ पर आकर
रोके – रुका॥

(१५)

सहसा बिछुड़े
प्रिय खोजने को
धन जीवन को
फिर से निकलीं।
नहीं देख सकीं
जिन्हें वे दिन
देखने यौवन के,
फिर से निकलीं।
प्रति – द्वंदिनी
काल की कंटक
भाले लिए तनके
फिर से निकलीं।
महि से मृत
कोमल कामिनियाँ

कलिका बन के
फिर से निकलीं ॥

(१६)

इस धूलि कणवाले
लोक को तो घेरे हुए
शोक – जल – पूर्ण
पारावार दुखियों का है।
सुख की समृद्धि
देखते हैं जिसे सम्मुख
ये अन्तर में दावे
दुख-भार दुखियों का है।
शान्त जलधार में
धरा के ही अशान्त सुप्त
ज्वालामुखी – जनित
उभार दुखियों का है।
ऊपर प्रसार तारकों के
हास्य का है किन्तु
नीचे पृथिवी के
हाहाकार दुखियों का है ॥

माखनलाल चतुर्वेदी

(दो साधें)

थके हुए दोनों पंखों को
झाड़, चलीं वे दोनों
टकराने की साध लिये सी
उभड़ चलीं वे दोनों;
एक ले चली चहल-पहल में
मुझे बनाने राजा,
और दूसरी ने निर्जन का
सुन्दर कोना साजा।
बल पर ? बलि पर ? कहाँ रहूँ ?
किससे अपना हृदय कहूँ ?
खिलकर भी गुलाब लिखता
है बाहर की बेचैनी,
भावों की बेलें गढ़ती हैं
जी में, सरग - नसैनी;
एक जागते में, जगती के
भाव बिके सुख लहती,
और दूसरी अनजाने में
मिट जाने को कहती;
हाय, काँच के सपने क्रूर,
मत कर जीवन चकनाचूर ?

(झरना)

कितने निर्जन में दीखा,
रे मुक्त हार वाणी के!
कवि, मंजुल वीणा-धारी,
माँ जननी कल्याणी के।
किस निर्झरिणी के धन हो?
पथ भूले हो किस घर का?
है कौन वेदना, बोलो!
कारण क्या करुणा-स्वर का?
मेरी वीणा की कटुता,
धो डाल तरल तारें से,
मैं तुझ-सा पागल हो के,
बह उठूँ नयन-द्वारें से।
चढ़कर, गिरकर, फिर उठकर,
कहता तू अमर कहानी,
गिरि के अंचल में करता
कूजित कल्याणी वाणी;
इस ध्वनि पर प्रतिध्वनि करती
रह रहकर पर्वत-माला,
यह गुफा गीत गाती है
ओढ़े नव हरा दुशाला।
बे-जाना नाद सुनाता,
जाना-सा जी में पाता,
अवनी-तल क्या, हीतल में,
तू शीतल धूम मचाता!

क्या तूने ही नारद को
सिखलाया ता ना ना ना?
क्या तुझसे ही माधव ने
सीखा था मुरलि बजाना?
क्या? मेरे गीत मधुर हैं?
पड़ गया तुम्हारा पानी!
ऊँचे नीचे टीलों से,
मैंने कब कही कहानी?
पाषाणों से लड़कर भी
ठंडक कब मैंने जानी?
कब जी का मल धो पाया
मेरी आँखों का पानी?
कब अमित पा सके मुझमें,
शीतल तुषार की धारा?
मैंने प्रियतम के रुख पर
गिरकर उठकर पथ धारा?
कब मेरी बूँदों, मेरे
हैं तट हरियाले होते?
कब ग्वाले मुझमें आके,
अपने पाँवों को धोते?
मैं गीत साँस में गुँथ कब
हर आठ पहर गाता हूँ?
कब रवि शशि का समता से
स्वागत मैं कर पाता हूँ?
मैं भू-मंडल को, कृति से
हूँ कुम्भीपाक बनाता,

तू स्वर्गंगा बन करके
सुर-लोक मही पर लाता;
लय मेरी प्रलय न करती
तरुणों के हिये उतरके
तू कल-कल कहला लेता,
पंछी-दल पागल करके;
मेरी गरीब करुणा पर,
'वे' मस्तक डोल न पाते,
तेरी गति पर तरु तृण हैं,
अपनी फुँनगियाँ हिलाते।
मैं पथ के अवरोधों से,
पथ-भूला रुक जाता हूँ,
भारी प्रवाह होकर भी,
विषयों में चुक जाता हूँ;
पर, तेरे पथ को रोकें
जिस दिन काली चट्टानें,
साथी तरु-लता भले ही
तुझको लग जाँय मनानें;
तब भी तू ज़रा ठहरकर,
सीकर संग्रह कर अपने,
चट्टानों के मनसूबे
चढ़-चढ़ कर देता सपने।
तू हृदय बेध वक्षों के,
लो अपनी सेना शीतल
प्रियतम-प्रदेश चल देता,
भर श्याम भाव से ही-तल।

मैं उपकारी के प्रति भी,
ममता बारूद बनाता,
हूँ अपनी कुटी जलाता
उसके घर आग लगाता;
तू 'मित्र'-प्रमत्त-करों से
ग्रीष्म में प्राण सुखाता,
पर उसका स्वागत गाकर
किरनों पर अर्घ्य चढ़ाता;
मेरे गीतों की प्यारे!
बूँदें न सूखने पातीं
विस्मृति-पथ जोहा करतीं
अपना शृंगार बनातीं;
पर पंछी-दल ने तेरे
गीतों का गान किया है,
हरि ने तेरी वाणी को
अमरत्व प्रदान किया है।
क्या जाने तरु-पंखेरू
तुझको लख क्यों जीते हैं?
तेरा कलकल पीते हैं
या, तेरा जल पीते हैं?
अपने पंखों से किसने
नभ-छेदन इन्हें सिखाया?
आकाश लोक का किसने
इनको गन्धर्व बनाया?
श्यामल घन! श्वासों जैसी
बाँसुरी न दिखलाती है,

पर तेरे गीतों की धुन
स्वच्छन्द सुनी जाती है;
ये छोटे-छोटे तरुवर
रह रह ताले देते हैं
तुझसे प्रसाद में प्यारे!
ठंडे, मोती लेते हैं;
कितने प्यारे तरु फूले,
कलियों का मुकुट लगाये,
पर तेरी गोदी में हैं
वे अपना शीश झुकाये;
फूलों को श्याम! चढ़ाकर
जब वे सुगन्ध देते हैं,
पत्ते पंखे बन, मारुत
जब मन्द मन्द देते हैं,
तू अपने पास न रखकर,
ज्यों का त्यों उन्हें बहाता,
लहरों में नचा नचा कर,
प्रियतम के घर ले जाता।
वनमाली बन तरुओं में
तुझसे खिलवाड़ मचाते,
गिरि-शिखर, गोद लेने में
तुझ पर हैं होड़ लगाते,
जब श्यामल घन आ जाते,
तुझ पर जीवन ढुलकाते,
हँस-हँस कर इन्द्रधनुष का
वे मुकुट तुझे पहनाते;

मानों वे गले लिपट के,
कहते, 'उपकार अमित है,
साँवले तुम्हारी करुणा,
बस तुमको ही अर्पित है।'

(वरदान या अभिशाप ?)

कौन पथ भूले, कि आये !
स्नेह मुझसे दूर रहकर
कौन से वरदान पाये ?
यह किरन-वेला मिलन-वेला
बनी अभिशाप होगा
और जागा जग, सुला
अस्तित्व अपना पाप होगा
छलक ही उट्ठे, विशाल !
न उर-सदन में तुम समाये।
उठ उसाँसों ने, सजन,
अभिमानिनी बन गीत गाये,
फूल कब के सूख बीते,
शूल थे मैंने बिराये।
शूल के अमरत्व पर
बलि फूल के मैंने चढ़ाये,
तब न आये थे मनाये—
कौन पथ भूले, कि आये ?

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

(यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन)

यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन,
हिय में यह अम्बर-विहरण-रण, ये टूटे उड्डीयन - साधन !

(१)

पंख नोच, पटका मानव को किसी खिलाड़ी ने धरती पर,
पर होती रहती है उसके अन्तर में पंखों की फर - फर,
पृथिवी माता ने पहनाई उसे बेड़ियाँ आकर्षण की,
और, किसी ने सुलगा दी है हिय में चिनगी संघर्षण की,
परवश है, पर, चाह रहा है यह करना रहस्य-उद्घाटन,
यह आकुल मन, यह अति लघुजन, पंखहीन यह; यह संश्लथ तन !

(२)

निगड़बद्ध मानव के युग पद, पाशबद्ध मानव के युग भुज,
और सतत आक्रान्त किए है उसे एक अभिशाप-ताप-रुज,
जिसे मेदिनी ने जकड़ा है, तुच्छ समझता जिसे प्रभंजन.—
और नियति ने डाल दिए हैं जिसके रोम रोम में बन्धन,—
उसी द्विपद को नील गगन ने भेजा है उड्डीन-निमन्त्रण !
गूँज रही है उसके हिय में पंखों की सन-सन-सन-सन-सन !!

(३)

मानव रहा न जाने कितने युग युग लौं सोया सोया-सा;
क्या हिसाब कितने युग से वह विचर रहा खोया खोया-सा ?
किन्तु नींद में भी तो उसने देखे उड़ने के ही सपने !
औ सन्तत विचरण में भी वह रहा खोजता डैने अपने !!

नहीं पा सका है अब तक भी अपने पंख और अपनापन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन !

(४)

क्या जाने कितनी लम्बी है उसके यात्रा की पगडंडी ?
क्या जाने कितना कर आया मार्ग-क्रमण अब तक यह दंडी ?
नित देशाटन, सतत परिव्रजन, सन्तत चलन, दिग्भ्रमण क्षण-क्षण,
सतत अतन्द्रित निमिष-गणन यह, यह दिक्-कालसंकलन क्षण-क्षण,
यही रहा है मानव का क्रम, यही नियति का है रेखांकन !
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन कर कर भ्रमण हुआ संश्लथ तन ।

(५)

पीछे मुड़कर कौन निहारे कितनी दूर आ चुका मानव ?
करता है स्वीकार गणित भी इस दिशि अपना पूर्ण पराभव !
आगे की भी क्या गिनती हो, जहाँ सकुचते हैं मन्वन्तर ?
जहाँ ब्रह्म - दिन भी छोटे हैं, लघु हैं द्युति-वर्षों के अन्तर !!
इस महान दिक् - कालार्णव में मानव करता सतत संतरण,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन,

(६)

मानव की झोली में संचित हैं कितने ही कंकड़ - पत्थर,
जो कुछ मिला पन्थ में, उसने वह सब उठा लिया है सत्वर,
यह सब संचित बोझ युगों का टाँगे वह अपनी लकुटी पर —
झुका भार से चला जा रहा नाप-नाप पथ-लीक निरन्तर !
इतने में भी गूँज रहे हैं हिय में नेति-नेति के ही स्वन !!
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन !!!

(७)

मानव ने विसृष्टि लीला लख पूछा निज से—'का सा ? कोऽहं ??'
मानव अपने अन्तरतर में निरख कह उठा—'साहं ! सोऽहं !!'

इस 'कोऽहं ? सोऽहं !' की अब तक रार मची है अन्तस्तल में;
नेति और इति जूझ रही हैं मानव के इस हृदय विकल में !
यह रण व्यक्त कर रहे उसके रोम-रोम, शोणित के कण-कण,
है रहस्य-उद्घाटन-रत मन, यद्यपि यह संश्लथ मानव तन;

(८)

जगत्-रूप हृदयंगम करने कहाँ कहाँ दौड़ाई निज मति !
कितनी प्रखर साधना उसकी ! अति प्रचंड विज्ञान-ज्ञान रति !!!
एक एक कर दूर हटाए प्रकृति नर्त्तकी के अन्तर-पट;
किन्तु अभी तक, इतने पर भी मिटा न रंच यवनिका-संकट !
परदे में हो रही प्रकृति की नृत्य-चलित पाँजन की झन-झन !!
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन सुन-सुन होता क्षण-क्षण उन्मन !!!

(९)

लीलामयी प्रकृति मानव से खेल रही है आँखमिचौनी,
औ मानव है अविहित-लोचन, जड़ गुण-बद्ध, स्तब्ध, अति मौनी !
ऐसा खेल कि रहता ही है सन्तत दाँव इसी मानव पर,
मानव के शिर पर है मंडित जिज्ञासा अभिशाप भयंकर
कहाँ जाय ? किस दिशि यह झाँके ? ढूँढ़े कहाँ ? किसे यह क्षण-क्षण ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन, यह असफल जन, यह संश्लथ तन.

(१०)

कभी कुहक आई अम्बर से 'ढूँढ़ो !' यों बोले सब उडुगण,
मानव ने उद्ग्रीवी होकर उधर उठाए अपने लोचन;
इतने में 'ढूँढ़ो-ढूँढ़ो' के आए स्वर पाताल अतल से
मानव ने घबड़ाकर मोड़े अपने युग दृग चकित अबल से;
किन्तु उसी क्षण दिशि-दिशि गूँजा 'ढूँढ़ो-ढूँढ़ो' का यह गुंजन;
किधर निहारे ? किसको ढूँढ़े यह बौराया सा जन उन्मन ?

(११)

बाहर तो ढूँढ़ो-ढूँढ़ो की सब दिशि यह गुंजार भरी है;
पर, भीतर भी यही महाध्वनि मन्थनशील अपार भरी है,
लखो चतुर्दिक वह पागल-सा आकुल मानव डोल रहा है,
अपने युग युग के यत्नों को निज दृग-जल में घोल रहा है,
उसे दिखाई पड़ा सभी दिशि अपने हिय का सन्तत कम्पन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, भ्रमित हुआ है, है संश्लथ तन;

(१२)

यह गभीर सृजनार्णव दुस्तर, परम अगम, फेनिल, चिरपंकिल !
लहराते जिसके अन्तर में नित्य, सनातन प्रश्न-तिमिंगिल !!
'कुत आजाता इयं विसृष्टिः ?' 'क इह प्रवोचत् ?' अहो 'वेदकः ?'
'अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् अंग वेद यदि वान वेदसः ?'
अपना मुख फैलाए आए सम्मुख ये चिर प्रश्न पुरातन !
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, है संश्लथ तन, है अति उन्मन !

(१३)

यों आई बन अतिथि, मनुज के हिय में, यह विदेशिनी पीड़ा,
यों मानव अपने को भूला, भूल गया वह अपनी ईड़ा।
चिदानन्दमय अपनी सत्ता उसने अपने से बिसराई;
प्रश्नों की उलझन में पड़कर अपनी विपदा और बढ़ाई;
किन्तु अँजा है मानव-दृग में ऊहापोह व्यथा का अंजन,
अतः रहस्योद्घाटन-रत जन है उत्सुक, यद्यपि संश्लथ तन;

(१४)

मानव की जिज्ञासा की है साक्षी स्वयं प्रकृति कल्याणी;
युग युग से हुंकारें करता चला आ रहा है यह प्राणी !
ये भीषण दिक्-काल-प्रहर उस ध्वनि-ध्यान से चिरकम्पित हैं !
लख मानव के यत्न निरन्तर, प्रखर प्रभाकर भी स्तम्भित हैं !!

देख देखकर इस वामन को अमित चकित हैं नभ-तारक-गण,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन चला जा रहा है संश्लथ तन;

(१५)

अम्बर काँपा, अवनी काँपी, काँप उठे नभ के सब तारे,
इस मानव की न-इति, न-इति सुन सभी लोक लोकान्तर हारे.
काल कँपा, आकाश कँप उठा सुन-सुन इसकी न-इति हठीली,
सबने देखा—है मानव की ग्रीवा उन्नत, यदपि लचीली !
इतिहासों के पन्ने भी हैं मानव का कर रहे संस्मरण
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन चला जा रहा है संश्लथ तन;

(१६)

कोटि कोटि ज्योतिर्वर्षों तक फैला है विस्तार मनुज का,
कहाँ कहाँ तक पहुँच चुका है अति तनु मन इस द्विपद, द्विभुज का !!
विस्तृत है इसकी लीला लघु विद्युन्मणि से ब्रह्मांडों तक;
इसके महाकाव्य की गाथा पहुँची है अगणित कांडों तक !
किन्तु पता क्या कितने गहरे और करेगा यह अवगाहन ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत-जन, यह अति उन्मन, यह संश्लथ तन,

(१७)

अमित ज्ञान भांडार, युगों के यत्नों से, संचित कर पाया,
यह मानव निज रिक्त कोश को नाना रत्नों से भर लाया;
जहाँ सभी दिशि इस अग जग के स्फुरणों में था केवल सम्भ्रम,—
जहाँ अन्ध-व्यस्तता मात्र थी, वहाँ लखा इसने कारण-क्रम ।
निरलंकृता प्रकृति को इसने पहनाए नियमों के कंकण !!
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, फिर भी फिरता है नित उन्मन;

(१८)

किन्तु पैठ गहरे जो झाँका तो नियमितता हुई तिरोहित;
केवल दैवायत्त-भावना होने लगी पुनः आरोहित;

अंशु-स्फुरणकारी पदार्थ कुछ जग में मानव ने देखा है,
जिसे दीप्ति-सक्रिय * तत्त्वों की श्रेणी में उसने लेखा है;
होता रहता है इन तत्त्वों के अणुओं का संहति - भेदन † !
जिसे निहार पूछ उठता है—'क्यों? क्यों ?' इस जन का उन्मन मन;

(१६)

जिसे कराल काल मेटेगा अरे कौन सा अणु विशेष वह ?
क्यों संहति-भेदन होता है ? क्यों होता है अणु अशेष वह ?
इन प्रश्नों का नहीं दे सका उत्तर यह मानव विज्ञानी;
यादृच्छिक अणु भेदन लीला ‡ अब तक नहीं किसी ने जानी;
कहो क्यों न अकुलाए मानव देख देख यह पटावरण घन ?
यह रहस्य उद्घाटन-रत जन, पंखहीन यह, यह संश्लथ तन;

(२०)

मानव ने विद्युन्मणियों को देखा नयनों में अचरज भर,
मानों विश्व आ गया सम्मुख अपना मूर्त्त रूप ही तजकर;
ज्योति किरण तो थी तरंगमय, अब घनत्व भी हुआ तरंगी !
मानों ऋण-विद्युन्मणियाँ × ये बना रहीं ब्रह्मांड - अनंगी !!
लुप्त हो रहे हैं क्या जग से मूर्त्त अमूर्त्त रूप के बन्धन ?
पूछ रहा है यों आकुल-सा, यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन !

---

* दीप्ति-सक्रिय तत्त्व = रेडियो-ऐक्टिव सब्सटैन्स, जैसे रेडियम इत्यादि ।

† अणु-संहति-भेदन = Disintegration of Atoms अणु-विस्फोट ।

‡ यादृच्छिक अणु-भेदन = Spontaneous disintegration अपने आप अणु-विस्फोट ।

× ऋण विद्युन्मणि = Electrons एलेक्ट्रान्स—वे विद्युत्कण जो अणुओं से भी सूक्ष्म हैं । इन्हें विद्युन्मय परमाणु कह सकते हैं ।

(२१)

असंतोष है इस मानव को सारे जग के इस सपने से;
औ' जग की क्या करे शिकायत? असंतुष्ट है वह अपने से!
यह आया है करने उतने ब्रह्मांडों का तत्त्व-निरीक्षण,
किन्तु मिले हैं निपट अधूरे उसे इन्द्रियों के ये लक्षण;
इतने क्षुद्र, असंगत इतने ये विज्ञान-ज्ञान के साधन,
तब फिर क्यों न हृदय में खीझे यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन?

(२२)

श्रोत्र, चक्षु, रसना, स्पर्शन, मन, घ्राण इन्हीं के बल यह मानव,–
सुलझा रहा उलझनें जग की, खोज रहा है अचरज नव-नव!
किन्तु साथ ही नई समस्या मानव उपजाता जाता है;
एक प्रश्न सुलझा कि दूसरा उसके सन्निधान आता है;
साँझ सबेरे रहती ही है सम्मुख एक पहेली नूतन,
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन उलझन में उलझा है प्रतिक्षण!

(२३)

जाना है जग रूप मनुज ने इन लघु इन्द्रिय-उपकरणों से;
कार्य और कारण की स्मृतियाँ उसने गूंथी हैं स्मरणों से,
पर यथार्थता क्या है? यह जो है केवल इन्द्रिय-संवेदन??
पूर्वोत्तर का घटना-क्रम ही है क्या कारण-कार्य-विवेचन?
ये प्रश्नावलियाँ सदियों से करती हैं मानव-हिय मन्थन;
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, यह संश्लथ तन, यह नित उन्मन;

(२४)

ये इन्द्रियाँ कभी क्या देंगी हमको यथार्थता का परिचय?
नयनों से देखा है जिसको है क्या वही वास्तविक निश्चय?
प्रकृति विलोकी जब आँखों से, तब क्या देखी? केवल झाँई!!
तब अवलोकी इक छल छाया! देखी बस केवल परछाँई!!

दृश्य सत्य है, तो सपना भी है यथार्थ का पूर्ण प्रकेतन ?
यों विचार कर रहा युगों से यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन ;

(२५)

नयनों ने घनत्व देखा था, नयनों ने तारल्य निहारा,
पर मानव के गहन ज्ञान ने यह सब भेद मिटाया सारा,
अब देखा कि जगत् है केवल धन औ ऋण विद्युत्कणिकामय;
औ विद्युन्मणियाँ भी ऐसी जिनका कठिन वास्तविक परिचय;
ऐसी मणियाँ होता रहता जिनका स्रवन बिना ही कारण;
तब फिर कारण-कार्य-तर्क का जन-हिय से हो क्यों न निवारण ?

(२६)

यों इन्द्रियगण की परिगणना, यों मन का घटना-संश्लेषण,
हिय को जँचे अधूरे ये सब, ये जग के सब रूप-विशेषण !
किन्तु क्या करे ? थककर बैठे क्या यह मानव हिय हारा सा ?
अपनी भौतिकता को कैसे करे क्रमित यह बेचारा - सा ?
भूत-ग्रस्त है जो, वह कैसे भौतिकता का करे उत्क्रमण ?
यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन, सोच रहा है यों अपने मन;

(२७)

क्या है स्रोत ज्ञान का ?—पूछा यों जब मानव ने अपने से
तो आई इक ध्वनि कि ज्ञान है केवल इन्द्रिय के कँपने से !
बोल उठा भौतिक विज्ञानी—हैं इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन,
इनके बिना कहो कैसे हो मानव का यह ज्ञानाराधन ?
मानव ने अपने स्वरूप के सुने तर्कमय ये सब प्रवचन,
किन्तु तत्त्व-उद्घाटन-रत जन पा न सका सन्तोष-शान्ति-धन !

(२८)

क्या हैं वे इन्द्रियाँ कि जिनने दिया ज्ञान-भांडार अतुल यह ?
क्या वे हैं केवल साधन ही ?—यों बोला मानव आकुल यह !

कहो, इन्द्रियों से ही केवल ज्ञान-नोदना कैसे जागी ?
केवल यह उपकरण समुच्चय कैसे बना ज्ञान - अनुरागी ?
क्या विज्ञान - ज्ञान का दाता है केवल इन्द्रिय - संवेदन ?
पूछ रहा है आज अथक-सा यह रहस्य - उद्घाटन - रत जन !

(२६)

आदि मनुज ने लपट देखकर अग्नि बनाई सदन-लालिता !
वह थी कौन प्रेरणा जिसने कहा—करो तुम वह्नि-पालिता ?
आदि मनुज ने पशुगण देखे, उन्हें बनाया निज अनुगामी !
वह क्या थी प्रेरणा कि जिसने कहा—बनो तुम इनके स्वामी ?
यह, जो आदि प्रेरणा हिय में, है यह भी क्या इन्द्रिय-स्पन्दन ?
अथवा यह है शक्ति अभौतिक ?—पूछ रहा है यों जन उन्मन !

(३०)

अपने को उपकरण समुच्चय कैसे माने मानव प्राणी ?
जब कि विचार और चिन्तन की इसने पाई अमर निशानी !
मनुज कर रहा है घोषित यों—अरे, नहीं हूँ भूत-संघ मैं !
मैं हूँ सांग, उपकरण संयुत, पर फिर भी हूँ नित अनंग, मैं !!
इसी नित्य प्राप्तव्य ध्येय की ओर जा रहा है यह लघु जन
यह रहस्य-उद्घाटन-रत मन पंखहीन यह, यह संश्लथ तन !!!

(एक नीम)

(१)

खड़ा हुआ है एक नीम यह, किसी किसान दीन के द्वारे,
मानों कोई अलख जगाता सिद्ध खड़ा हो बिना सहारे;

ध्यान-मग्न-सा, असंलग्न-सा वीतराग, यह वल्कल-धारी,—
कितनी ही दुख दरद-कथाएँ देख चुका है बारी-बारी;
खड़ा हुआ है उस तापस-सा जिसकी सन्तत चिन्तन-ज्वाला,—
मानों देगी नवल सँदेसा अभिनव ज्योति जगानेवाला।

(२)

अगणित व्यथा वेदनाओं के इसने यहाँ किए हैं दर्शन
अगणित बार विलोका इसने कृपकों के दृगजल का वर्षण,
इसने सुघड़ किसान-वधूटी देखी चिथड़ों में शरमाते,
इसने नव दम्पति अवलोके केवल महुओं पर रह जाते;
इसने देखे नन्हें बच्चे नित बिललाते, सूखे-सूखे,
इसने देखे सभी ग्रामजन जीवन्मृत-से नंगे भूखे।

(३)

जिस घर के दरवाजे तरु हैं, वह घर अब सुनसान हुआ है;
साँय-साँय करता है; मानों वह एकान्त श्मशान हुआ है,
इस घर नामक खँडहर में जो कृषिजीवी दम्पति रहते थे,—
जो कु-समाज-व्यवस्था का अति अनाचार निशि-दिन सहते थे,—
वे ही अब दुर्भिक्ष प्रताड़ित, जर्जर देह, भूख के मारे,—
चले गए हैं कहीं! नीम को छोड़ अकेला अपने द्वारे!!

(४)

रोईं घर की टूटी भीतें; बूढ़ा नीम फूटकर रोया;
अम्बर ने भी बिलख बिलखकर, माँ धरती का चीर भिगोया;
राजपुत्र सिद्धार्थ चला था निज गृह त्याग अमरता पाने;
और उसी के देश - निवासी चले खोजने दाने-दाने;
कौन पा सका परम अमर-पद, यों बिन मुट्ठी भर दानों के?
कैसे पायें जन अपनापन, जब कि पड़ें लाले प्राणों के?

(५)

दशाब्दियों का वृद्ध नीम यह अमित व्यथित है अन्तरतर में,
कहो छिपाए रहे कब तलक अमित व्यथा निज अभ्यन्तर में ?
हहर हहर कर तड़प रही है इस पादप की पत्ती-पत्ती,
मानों संचित दुख की बातें कह डालेगी रत्ती-रत्ती !
यह पुराण-साक्षी जड़-पादप, कुछ कहने को है आतुर-सा,
यह मौनी भी आज बन रहा नव-सन्देश-वहन-चातुर सा !

(६)

मैं पहुँचा झुटपुटे समय उस एकाकी तरुवर के नीचे,
औ कुछ क्षण को मैंने अपने भारी-भारी लोचन मींचे;
नीम उसी क्षण मुझसे बोला—ओ गतिमय, दो पैरोंवाले,
मुझ निर्गति, मुझ अचल, विवश की आकर कुछ तो व्यथा बँटा ले !!
तू कब तक देखता रहेगा नित्य उजड़ते यों घर के घर ?
कब तक तांडव नृत्य करेगी यह विभीषिका इस धरती पर ?

(७)

बोल, द्विपद, वे मेरे साथी, वे इस टूटे घर के वासी,
किधर गए वे, जिनके बिन यह कुटी हो रही आज रुआसी !
बरसों के मेरे सहवासी मुझे कर गए आज अकेला;
कहाँ कृषक वह जो बचपन में मेरी छाया में था खेला ?
कहाँ गई वह कृषक-वधू जो नित करती थी हँसी-ठठोली ?
सावन-भादों में रखती थी जो हँस मेरी पकी निंबौली ?

(८)

ओ तू शिक्षित मनुज, बता तो, कब भड़केगा तव क्रोधानल ?
बोल, अरे, सुस्थिर कब होगी तेरी चित्तवृत्ति दोला चल ?
भवति-न भवति-कुशंकाओं में तू कब तक यों पड़ा रहेगा ?
उकठ-काठ-मारा-सा तू यों पथ में कब तक खड़ा रहेगा ?

मैं अग भी बदला करता हूँ विकट काल-परिवर्तन के सँग,
ओ जंगम तू क्या न लखेगा बदले हुए जमाने का रँग ?

(६)

कभी-कभी तेरी डालों पर दूर देश के पंछी आकर,
उन देशों के जन-परिवर्तन-गायन गाते मुझे सुनाकर !
सिहर उठा करता हूँ मैं वे बातें सुन निज अन्तरतर में.
और निरख अपने मानव को रोया करता हूँ निशि भर में !
क्या वह बल, वह अतुल पराक्रम मम मानव में नहीं जगेगा ?
अरे बोल विप्लव के रस में कब तक मेरा मनुज पगेगा ?

(१०)

कब तक निरखूँ निज मानव के जीवन की वेदना, व्यथा यह ?
कब तक शरमाऊँ मैं सुन सुन अन्य जनों की कीर्त्ति-कथा वह ?
तू कब तक सीखेगा करना प्रलयंकर हुंकार भयंकर ?
कब प्रारम्भ करेगा सँग-सँग तू सिरजन, संहार - भयंकर ?
बोल, अरे, ओ प्रतिनिधि मानव, तू शिक्षित संस्कृत, विज्ञानी !
तूने समय-बयार-दिशा-गति क्या अब तक न अरे, पहचानी ?

(११)

मैंने उस क्षण सुनी नीम की यह कटु-सत्य व्यथा की वाणी;
और छलछला उठा उष्ण-सा, मेरे मीलित दृग में पानी !
किन्तु किया अनुभव कि हृदय में सुलगी है विप्लव-चिनगारी,
मैंने देखा कि उठ रहे हैं निद्रा से मेरे नर-नारी !
मैंने देखा कि दूर क्षितिज में विहँस रहे हैं मेरे सपने !!
मैं बोला—ओ निम्ब, बिलख, मत, आते हैं अब शुभ दिन अपने !!!

(आई यह अरुणा सुकुमारी)

रुन-झुन, गुन-गुन, रुन-झुन, गुन-गुन भ्रमरी पाँजनियाँ गुंजारीं ;
तन, मन, प्राण, श्रवण ध्वनि-पूरित, आई यह अरुणा सुकुमारी !

(१)

वन-वन में कम्पन-निष्पन्दन भर भर विचरा सनन समीरण,
वंश-अवलियों के अन्तर से गूँजे नव नव स्वागत के स्वन;
सिहर उठे जग के रज कण-कण ;
पुलकित प्राण, खिल उठा चेतन ;
जलज खिले; मानों अरुणा ने अपनी अँखियाँ सलज उघारीं !
बजीं भृंग-पाँजनियाँ, आई ठुमुक ठुमुक अरुणा सुकुमारी !!

(२)

किरण मार्जनी से मृदुला ने दूर किया वह दुर्दम तम घन,
अरुण अरुण निज कोमल कर से चमकाया अम्बर का आँगन;
लुप्त हो चले ग्रह तारक-गण,
विहँसीं सकल दिशाएँ मुद-मन,
अम्बर से अवनी तक लहरी अरुणा की सतरंगी सारी
गगन-अटा से हँस-मुसकाती उतरी नवबाला सुकुमारी !

(३)

हँसी मेदिनी, हँसे शैलगण, तरु लतिकाएँ हँसीं अकारण,
कलियाँ हँसीं, पर्ण, तृण हुलसे, गान कर उठे सब द्विज-चारण;
गूँजा मन्त्र - छन्द - उच्चारण,
पूर्ण हुआ तब मौन - निवारण ;
अनहद नाद गगन नभ - मंडल, नाद मगन सब गगन - विहारी,
तन, मन, श्रवण विनादित करती आई यह अरुणा सुकुमारी !

श्री भगवतीचरण वर्मा

एक घटना !

हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

दुबले, मोटे, लम्बे, नाटे
यात्री बेञ्चों पर अड़े हुए,
कुछ मौन विवशता से प्रेरित
थे मन को मारे खड़े हुए,
कुछ अपनी जेब सम्हाले थे
कुछ थे जेबों को तड़े हुए !

हम भी कोने में चिपक गए, सुमिरन कर मन में राम-नाम;
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

अंग्रेज, मारवाड़ी, सिन्धी,
हिन्दुस्तानी, बंगाली थे;
कुछ असली ठस आसामी थे,
कुछ बने-ठने थे जाली थे;
कुछ हँसी-खुशी में मस्त और
कुछ लड़कर देते गाली थे !

आनेवालों, जानेवालों की मची हुई थी धूम-धाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

कुछ फूँक रहे थे पैसों को
निज हाथों में सिगरेट लिए;
कुछ सड़े मैल को भी अपने
मुँह में थे कसकर बन्द किए;
हम सोच रहे थे मृत्यु यहीं—
यह भाग्य हमारा कि हम जिए!

हम उस मेले में देख रहे थे बड़े नगर की टीमटाम!
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

रुक गई ट्राम झटका खाकर
दरवाजे पर आँखें घूमीं,
मदमाती, इठलाती युवती
नजरों ने उसकी छवि चूमी,
आई उछाह की एक लहर
हँसकर मन की मस्ती झूमी!

थी एक अप्सरा या कि परी, रह गए सभी दिल थाम-थाम;
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

कन्धे से कन्धे भिड़े हुए
थी भरी खचाखच ट्राम कहाँ!
औ' नहीं दिखाई देता था
तिल रखने का भी ठौर जहाँ,
हँसती-सी बाँकी चितवन पर
बेञ्चें खाली हो गईं वहाँ

आदर से युवती बैठ गई, कुछ बल खाकर, कुछ झूम-झाम,
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

फिर चौराहे पर ट्राम रुकी
अब चढ़ी एक बुढ़िया जर्जर,
थीं शिथिल पिंडलियाँ काँप रहीं,
थी हाँप रही, था उसको ज्वर
वे सभ्य और मनचले लोग
चुप बैठे थे बनकर पत्थर!

धन और रूप के भिखमंगों को था दुखिया से कौन काम?
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

धन की दानवता से पीड़ित
हमने देखा उन लोगों को,
वासना और तृष्णा से हत
उनकी आत्मा के रोगों को,
उनके कलुषित उद्गारों को,
उनके उन कलुषित भोगों को!

कुछ क्षुब्ध सोचते हुए अरे हम वापस लौटे घूम-घाम!
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

हमने सोचा—अनियन्त्रित रव
से भरा हुआ कलकत्ता!
कितना विशाल इसका वैभव!
कितनी महान इसकी सत्ता!
कितनी गँभीर इसकी गुरुता!
पर एक बात है अलबत्ता—

पशु बनकर मानव भूल गया है मानवता का नाम-गाम!
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके, घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

सोहनलाल द्विवेदी

उर्वशी

स्वर्ग-कथा—

लासमयी, हासमयी, विविध विलासमयी,
सुंदरियाँ, अप्सरियाँ, किन्नरियाँ
नन्दन-निकुंज में
पारिजात-पुंज में
जहाँ, केलि करती हैं कल्पलता मंडप में;
जहाँ, अर्धमीलित दृग किए देव-गन्धर्व,
पीते हैं सुरा, सुधा, सोमरस, मधुपर्क;

जहाँ,
अंग-लतिका में खिलते अरुण कपोल,
लोल भृंग पीते हैं आनन का मधु-पराग,
यौवन अक्षुण्ण जहाँ
करता रँगरेलियाँ, अठखेलियाँ निरन्तर है,
इन्हीं रूपसियों के सरल-तरल कुन्तल-सी
बहती मन्दाकिनी अमन्द मकरन्द ले।

एक बार—
इसी सुरलोक में
सुरपति के ओक में
ऊर्ध्वगामी पुण्य-सम, सौख्य-सम

आए पांडु-पुत्र पार्थ
जैसे हो पुरुषार्थ।
इन्द्रलोक में नवीन उत्सव-उत्साह भरा,
अप्सरियाँ ने नवीन मदिरा से पात्र भरा,
स्वयं उपहार-सी
सोलह श्रृंगार-सी
सुषमा अपार-सी
करती आर्य-पुत्र अर्जुन की अर्चना, वन्दना;

देव-सभा मंडप में चलती नित नई बात
मधुर प्रात,
स्निग्ध रात।

एक दिवस—
उत्सव-उत्साह में
कौतुक-प्रवाह में
देवसुर प्रेयसी
सुरलोक रूप-सी
आई चली उर्वशी
इन्द्रजाल बनकर छा लेने को नभ विशाल,
यौवन की तान में बनने को गहन ताल।

पांडुपुत्र कान्तिमान शोभित जहाँ
छविमान,
करते विकीर्ण अपनी शत किरण-प्रभा,
दीप्त हो रही थी मणि-रत्नों से इन्द्र-सभा,
श्रवण कर रहे थे सभी आर्य की कीर्ति-कथा,
म्लान-श्री हुई थी इन विलास-लीन देवों की।

देख यह रंग-ढंग,
उर्वशी अवश हुई, विवश हुई;
मिले जहाँ नयन चार,
उमड़ उठी अरुण धार
जगी कामना अपार
नीरव निस्पन्द प्यार ।

उर्वशी विमुग्ध हुई
रूप-लावण्य पर, विक्रम पर, यश पर
उसकी हृत्तन्त्री में बजने लगा अनुराग
स्वर्ण-स्वप्न आने लगे पलकों पर मिलन के
खिल उठी नवीन अरुणिमा कपोलों पर,
लज्जा,
नव सज्जा कर थिरक उठी अंगों में,
मन्दस्मिति, नमित नयन, अलस देह,
कामना-तरंगों में,
यौवन नव फूट पड़ा अपने नवयौवन में
जैसे रक्त-रश्मियाँ बिखरतीं सुमेरु पर
लतिका पर, पल्लव पर, तृण-तृण पर, कण-कण पर !

एक रात—
जब कि बह रही थी मन्द-मन्द मदिर वात,
स्निग्ध हो उठे थे नव मधुऋतु से कुसुम-पात,
जाती स्वर्गंगा इठलाती मदमाती-सी
चूमने को सिन्धु-अधर,

तम का पहन नील वसन गहन कानन में,
बनकर अभिसारिका,
सजकर शत तारिका,

उसी समय—
उर्वशी त्रिलोकसुन्दरी,
सुन्दरी ज्यों विभावरी
सजकर नव हीरहार
पुष्पहार
अंग-अंग अंगराग,
केसर, मृगमद-पराग,
मस्तक कुंकुम सुहाग,
अरुण चरण,
नूपुर-ध्वनि
बजती शत किंकिणी
बजती-सी आगमनी,
मृदु-मृदु मधु झंकार
झंकृत-सी करती चर-अचर निखिल तार,

चंचल अंचल में छिपी जैसे स्वर्ण दीप-शिखा
नील-श्याम पल्लव में जैसे कलिका की विभा,
कृष्ण मेघ मंडल में जैसे विद्युत् की प्रभा।

चली उर्वशी,
नाम सार्थक बनाने को
धीर गंभीर पार्थ-प्रण के डिगाने को,
रँगने को सौन्दर्य के रंग में

विलास के ढंग में,
सोने को, सोती जैसे
सुख से सरोजिनी,
नीरव निशीथ में
नयन बन्द,
मौन स्पन्द
अर्जुन के संग में !

वन्दन अभिनन्दन में, स्वागत में आगत के
आए पार्थ,
बोले—
"आओ, वन्दनीया, पूजनीया,
मेरा सौभाग्य परम,
चरम आनन्द आज,
गौरवित किया, मुझे पद-रज-पराग से
पावन अनुराग से।

आज्ञा दो देवि, धरूँ—
मस्तक पर आँखों पर, विद्युद्गति पाँखों पर
आज्ञा दो देवि !
करो पार्थ को कृतार्थ आज !"

उर्वशी प्रसन्न, जैसे केतकी निकुंज में,
अलि से सुन स्नेहगीत
पुलक स्फीत
बोली—
"आज धन्य मैं, अनन्य मैं,

करके पुण्य दर्शन वरेण्य आर्य आपका,
जिसके प्रताप का,
दिवाकर है भासमान
दिशि-दिशि में गूँज रहे जिसके नित यशोगान,
अब भी सुन पड़ती है श्रुति-पुट में बार-बार
जिसके बल-विक्रम की गांडीव-टंकार !"

अधरों पर लेकर स्मिति, जैसे हो कृति
किसी विरह-विधुर प्रणयी की
उर्वशी बोली—
"जानते हो क्यों अर्ध रात,
आई एकाकिनी
यहाँ पर
पूर्ण कर सकोगे साध मेरी अबाध क्या ?"

"अनुचर मैं आपका,
टाल सकता हूँ नहीं,
कभी कोई बात कहीं ।
भगवति महिमामयी बोलो—कहती हो क्या ?
कैसी संदिग्ध भ्रम-धारा में बहती हो या ?
कहो—
निश्चिन्त, निश्शंक, निर्भ्रान्त, निर्धूम;
पार्थ पूर्ण करेगा सभी अम्बर धरा चूम !"

साहस बटोरकर,
उर की मरोर रोक,
अनुपम सुघराई से
अभिनव अँगड़ाई से

उर्वशी बोली,
हेम-वल्लरी ज्यों डोली !
"सुनकर वीर विक्रम, पराक्रम, शक्र सम,
मेरा उर-पद्म खिल चुका है
न जाने कब का
तब से मैं बनी हूँ अनुरक्त स्नेह-रंग से
श्रद्धा-प्रसंग से

मुग्ध हो गई हूँ गुणी !
रूप-लावण्य पर, विक्रम पर, यश पर,
इन भुज विशाल पर,
जिनने किया है दर्प-दलन
सुरों का, असुरों का,
गन्धर्व-नाग-यक्ष किन्नरों का,
धरणीधरों का,
आज
उन्हीं विश्वविजयी बाहुपाश में
आश्रय दो आर्य मुझे,
आई हूँ चरण-शरण,
करने को हृदय वरण,
आभरण बनाने को
कौस्तुभ-सा आपको
पौरुष प्रताप को !"

पार्थ की मुखश्री अरुण
होने लगी नील वरण,
बोले—

"मैं न समझ पाया अभी
अभिप्रेत आपका,
संकेत आपका।"

उर्वशी बोली—
"वह दिन स्मरण है आर्य ?
आए थे सुन्दरतम,
शुभ्र शरद घनसम,
मेरी ओर देखा था तरल नयन किए,
मदिरा-सी हिये पिए,

"और,
उस दिन आती थी स्वर्गंगा से जब सद्यस्नात
लिए स्वर्ण-कमल
निज पाणि-पल्लव में।
उत्सुक हो पूछा था—
कैसे मैं निकाल सकी ?
मैंने तब वे स्वर्ण-पंखुड़ियाँ सुगन्धमयी
चरणों में बिखेर दीं,
हेर दिया तुमने था दुग्धमुग्ध दृष्टि से
शीतल कर दिया था मुझे अमृत की वृष्टि से
नवसुख की सृष्टि से।
नयनाभिराम ! क्या वह दिन भी स्मरण है ?"

"क्यों नहीं स्मरण है !
उऋण हो सकूँगा नहीं स्वर्ग संस्मरण से
इस स्नेह-अवतरण से।"

'किन्तु,
आज देने मैं आई हूँ—
देती जो किसी को नहीं
अनुपम अमूल्य निधि
उत्सुक, उत्कण्ठित, उद्ग्रीव, उन्मन विधि,
देव, असुर, नाग, किन्नर, गन्धर्व सर्व,
चाहते जिसे हैं
और चंचल अंचल पसार
भिक्षा-सी माँगते हैं, भिक्षुक हो बार-बार
निराधार
पुण्यशील ! तपोनिधे !
तप के प्रसाद-सा, नियम अपवाद-सा
अपने इस अनिंद्य अनवद्य
रूप का, हृदय का, यौवन का दान,
प्राण, इसे स्वीकृत करो
श्रेष्ठतम दान यह !
आज सीमन्त में भरो नवसिन्दूर !

पूर्ण करो युग-युग की अचल मौनकामना !
यह श्रान्त क्लान्त सरिता सिन्धु अधर चूम,
अतल में विलीन आत्मविस्मृति में उठे झूम ।"

"सत्य सब, सुर-सुन्दरी ! किन्तु है असत्य एक
मैंने कभी न देखा इस क्रम से
स्नेह-उपक्रम से
देखता रहा सदैव कौतुक कौतूहल से
विस्मय से, हलचल से

सोचता रहा सदैव कितनी तुम
गरिमामयी, महिमामयी,
तपोमयी, तेजमयी,
जिससे उद्भूत हुआ निर्मलतम
देववंश !"

"पार्थ ! तो क्या यह भ्रम था मेरा नितान्त ही ?
छलना प्रवंचना थी मेरी भावना ही की ?
देखा क्या मैंने प्रतिबिम्ब निज रूप का ही ?
सुनी क्या मैंने प्रतिध्वनि निज स्वर ही की ?
मैं ही थी प्रश्न, और उत्तर थी मैं ही स्वयं ?

यह सब असंभव है !
असंभव है यह सब !
अधरों के कम्पन ये
रोमों की पुलकन ये,
अंगों की सिहरन ये
प्राणों के स्पन्दन ये
कहते सभी हैं यही—
"तुम भी आसक्त हुए,
तुम भी अनुरक्त हुए,
साक्षी हैं मेरी ये आँखें

मधु-भीगी पाँखें !"
झंझा की बातें सुना करता है हिमवान,
जैसे अचल अटल व्रती हो निमग्न ध्यान

वैसे थे पार्थ
अविचल यथार्थ !

बोले पार्थ—
"विश्वसुन्दरी ! व्यथित न हो,
उच्छ्वसित हो के, व्यर्थ व्याकुल मूर्च्छित न हो,
मैं हूँ अयोग्य सर्वथा ही इस दान के !"

"तो क्या, निवेदिता, समर्पिता,
चली जाय उर्वशी आज यों उपेक्षिता !

होगा परिणाम अशुभ, शुभ ! इसे जान लो !"

पोंछ उत्तरीय से मस्तक के श्रमविंदु
बोले
भयभीत विनीत परमार्त पार्थ !
"संभव नहीं है, यह कार्य आर्ये !
सर्वथा अनार्य !
दुष्कार्य मेरे लिए !"
पड़ता तुषार, शीतभार से असह्य जैसे
सोती मृत्युशय्या में
मौन हो कमलिनी,
त्यों ही
हतचेतन अचेतन हुई उर्वशी !
आया जब होश, रोषयुक्त बनी उल्का-सी
टूट पड़ी

फूट पड़ी
वज्रघोष करका-सी
भृकुटि बंक
अधर कंप
चीरती धरा का वक्ष
बोली उर्वशी—
"तो क्या उत्तर यह अचल है, अडिग है?"
"हाँ मैं" असमर्थ हूँ
अयोग्य 'हाँ' कहने में!"

तो सुन
"छली! भीरु! कायर! पुरुष! नृशंस!
देती हूँ तुझे शाप!
लगे पाप!
अबला पर तूने किया है यह पदाघात!
कोमलतम भावनाओं पर कठिनतम संघात,
नारीत्व पर तूने किया है प्रतिघात!
तो तू
नराधम!
नर होकर हो, नरत्व-हीन,
नारी हो,
मुझसे भी अधिक व्यथित ग्रथित दीन,
भोग तू यही भोग
इसी के योग्य है
उर्वशी अयोग्य है सत्यतः तेरे लिए!"

पार्थ पदप्रणत,
सजल नेत्र,
वेत्र कंपित से,
बोले आर्द्र कंठ—
"माँ, शिरोधार्य शाप यह !
आप नित्य नंदन में सुख से विहार करें,
अमर कीर्ति बनकर युग-युग विस्तार करें।"

(राणा प्रताप के प्रति)

कल हुआ तुम्हारा राजतिलक
बन गये आज ही वैरागी ?
उत्फुल्ल मधु-मदिर सरसिज में
यह कैसी तरुण अरुण आगी ?

क्या कहा, कि—
'तब तक तुम न कभी,
वैभव सिंचित शृंगार करो,
क्या कहा, कि—,
'जब तक तुम न विगत—
गौरव स्वदेश उद्धार करो !'

माणिक मणिमय सिंहासन को
कंकड़ पत्थर के कोनों पर,
सोने चाँदी के पात्रों को
पत्तों के पीले दोनों पर,

वैभव से विह्वल महलों को
काँटों की कटु झोपड़ियों पर,
मधु से मतवाली बेलाएँ
भूखी बिलखाती घड़ियों पर,

रानी कुमार-सी निधियों को
माँ के आँसू की लड़ियों पर,
तुमने अपने को लुटा दिया
आजादी की फुलझड़ियों पर,

निर्वासन के निष्ठुर प्रण में
धुँधुवाती रक्त-चिता रण में
बाणों के भीषण वर्षण में
फौहारे से बहते व्रण में,

बेटा की भूखी आहों में,
बेटी की प्यासी दाहों में,
तुमने आजादी को देखा
मरने की मीठी चाहों में!

किस अमर शक्ति आराधन में,
किस मुक्ति युक्ति के साधन में,
मेरे वैरागी वीर व्यग्र
किस तप-बल के उत्पादन में?

हम कसे कवच, सज अस्त्र-शस्त्र
व्याकुल हैं रण में जाने को,
मेरे सेनापति! कहाँ छिपे?
तुम आओ शंख बजाने को;

जागो ! प्रताप, मेवाड़ देश के
लक्ष्यभेद हैं जगा रहे,
जागो ! प्रताप, माँ-बहनों के
अपमान - छेद हैं जगा रहे;

जागो प्रताप, मदवालों के
मतवाले सेना सजा रहे,
जागो प्रताप, हल्दीघाटी में
बैरी भेरी बजा रहे !

मेरे प्रताप, तुम फूट पड़ो
मेरे आँसू की धारों से
मेरे प्रताप, तुम गूँज उठो
मेरी संतप्त पुकारों से;

मेरे प्रताप, तुम बिखर पड़ो
मेरे उत्पीड़न - भारों से,
मेरे प्रताप, तुम निखर पड़ो
मेरे बलि के उपहारों से।

श्रीश्यामनारायण पांडेय

(जौहर)

अन्धकार दूर था,
झाँक रहा सूर था।
कमल डोलने लगे,
कोष खोलने लगे।

लाल गगन हो गया,
मुर्ग मगन हो गया।
रात की सभा उठी,
मुसकरा प्रभा उठी॥

घूम घूमकर मधुप,
फूल चूमकर मधुप।
गा रहे विहान थे,
गूँज रहे गान थे॥

रात-तिमिर लापता,
चाँद का न था पता।
तुहिन-बिन्दु गत कहीं,
छिप गये नखत कहीं॥

पवन मन्द बह चला,
मधु मरन्द बह चला।
अधखिले खिले कुसुम,
डाल पर हिले कुसुम॥

विविध रंग-ढंग के,
विविध रूप-रंग के।
बोलते विहंग थे;
बाल-विहग संग थे॥

भानु-कर उदित हुए,
कंज खिल मुदित हुए।
न्याय भी उचित हुए,
कुमुद संकुचित हुए॥

भासमान बढ़ चला,
ताप-मान बढ़ चला।
रजत-रश्मियाँ उतर,
खेलने लगीं बिखर॥

काँच में खिलीं कहीं,
ख्याति में मिलीं कहीं।
पंक में धँसीं कहीं,
फूल में हँसीं कहीं॥

जान गमन रात का,
जान समय प्रात का,
वीर सब उछल पड़े;
महल से निकल पड़े॥

दिवस के विकास में,
किरण के प्रकाश में,
गोलियाँ दमक उठीं;
बर्छियाँ चमक उठीं ॥

सात सौ सवारियाँ,
तीव्रतर कटारियाँ,
तेग तबर आरियाँ,
चल पड़ीं दुधारियाँ ॥

मखमली उहार थे,
स्यूत रतन-तार थे।
सूरमे कहार थे,
जा ज्वलित अँगार थे ॥

दुर्ग की तरी प्रबल,
राजकेसरी प्रबल
जयति बोलने लगे;
शृंग डोलने लगे ॥

जयति-जय-निनाद से,
जयति-जयति-नाद से,
गूंजने नगर लगा;
एक एक घर लगा ॥

जय उमे, गणेश जय,
रुद्र हर महेश जय।
जय निशुम्भमर्दनी,
जय महिषविमर्दनी ॥

जय असुर - विदारिणी,
जय त्रिशूलधारिणी।
देवि ! पथ प्रशस्त कर,
शत्रु - व्यूह त्रस्त कर ॥

माँ, न तनिक देर कर,
आज तू अहेर कर।
गरज गरज हेरकर,
अहित मार घेरकर ॥

जयति - जयति बोलकर,
बाहु - शक्ति तोलकर,
हाँ, कहार चल पड़े;
वीर - उर उछल पड़े ॥

वीर बहू बन चले,
कुन्त कर वहन चले।
राजपूत जन चले,
काल - दूत तन चले ॥

मत्त सिंह - दल चला,
हाँ, अकूत बल चला।
साथ चलीं डोलियाँ,
गूँज उठीं बोलियाँ ॥

दुर्ग का महारथी,
समर - शूर सारथी,
बोल उठा ताव से,
राजसी प्रभाव से—

तुम अजर, बढ़े चलो,
तुम अमर, बढ़े चलो।
तुम निडर, बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो।

काँप रहा हाड़ हो,
घोर विपिन झाड़ हो।
सामने पहाड़ हो,
सिंह की दहाड़ हो॥

शेषनाग हो अड़ा,
क्यों न काल हो खड़ा।
पड़ रहे तुषार हों,
झड़ रहे अँगार हों॥

पर न तुम रुको कभी,
पर न तुम झुको कभी।
नाग पर चले चलो,
आग पर चले चलो॥

तुम अजर बढ़े चलो,
तुम अमर, बढ़े चलो,
तुम निडर, बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

देश की शपथ तुम्हें,
देश की शपथ तुम्हें।
मददगार राम है,
लौटना हराम है॥

एक गति बनी रहे,
एक मति बनी रहे।
जोश भी न कम रहे,
बाढ़ पर कदम रहे॥

क्यों न चलें गोलियाँ,
पर न रुकें टोलियाँ।
घूमते हुए चलो,
झूमते हुए चलो॥

तुम अजर, बढ़े चलो,
तुम अमर, बढ़े चलो।
तुम निडर, बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

कौन कह रहा निबल,
कौन कह रहा कि टल।
झाड़ दो उसे अभी,
गाड़ दो उसे अभी॥

लक्ष्य तो महान है,
एक इम्तहान है।
पर न रंच भय करो,
राह रक्तमय करो॥

विघ्न ठेलते चलो,
हाँ, ढकेलते चलो।
मस्त रेलते चलो,
खेल खेलते चलो॥

तुम अजर, बढ़े चलो,
तुम अमर, बढ़े चलो।
तुम निडर, बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो।

राजसद्मिनी न है,
आह, पद्मिनी न है।
एक देवता कहो,
स्वर्ग का पता कहो॥

कौन चाहता उसे,
कौन डाहता उसे।
दो उसे दुरा अभी,
भोंक दो छुरा अभी।

यही आन-बान है,
राजपूत - शान है।
लक्ष्य जानकर चलो,
वक्ष तानकर चलो॥

तुम अजर, बढ़े चलो,
तुम अमर, बढ़े चलो।
तुम निडर, बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

आसमान फट चले,
मेदिनी उलट चले।
आग की लपट चले,
अंग अंग कट चले॥

गर त्रिकूटधर गिरे,
सूर छूटकर गिरे।
चाँद फूटकर गिरे,
व्योम टूटकर गिरे॥

पर न एक दम रुको,
पर न एक दम झुको।
चाह पर चले चलो,
राह पर चले चलो॥

तुम अजर, बढ़े चलो,
तुम अमर, बढ़े चलो।
तुम निडर, बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

मेघ गरजता रहे,
पवन तरजता रहे।
समय बरजता रहे,
अन्त का पता रहे॥

त्रिपुर - सुर विरुद्ध हो,
दिग्दिगन्त क्रुद्ध हो।
भूलकर न भय करो,
युद्ध में विजय करो॥

प्रश्न है जटिल महा,
शत्रु है कुटिल महा।
आन - बान पर चलो,
खेल जान पर चलो॥

तुम अजर, बढ़े चलो,
तुम अमर, बढ़े चलो।
तुम निडर, बढ़े चलो,
आन पर चढ़े चलो॥

अब न शत्रु दूर है,
जो कि महाक्रूर है।
अब न बोलते चलो,
विष न घोलते चलो॥

भूत से शिविर खड़े,
अरि-समूह-शिर खड़े।
तेग-तबर लो छिपा,
रंग-जबर लो छिपा॥

खग दुधार मन्द हों,
हाँ, कहार बन्द हों।
ध्वनि न अनारी उठे,
नाद कहारी उठे॥

दुर्ग से उतर गये,
एक सिन्धु तर गये।
अरि-शिविर समीप है,
सामने महीप है॥

मौन वीर हो गये,
मौन धीर हो गये।
पर समीर हो गये,
तुरत तीर हो गये॥

एक ही निदेश में,
एक ही निमेष में।
बोलियाँ सकुच गयीं,
डोलियाँ पहुँच गयीं॥

ब्रजभाषा खंड

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

(प्रेम-माधुरी)

बोल्यौ करै नूपुर स्रवन के निकट सदा,
पद-तल लाल मन मेरे बिहर्‌यौ करै।
बाजी करै बंसी-धुनि पूरि रोम-रोम मुख,
मन मुसकानि मंद मनहि हँस्यौ करै।
हरीचंद चलनि मुरनि बतरानि चित,
छाई रहै छबि जुग दृगनि भर्‌यौ करै।
प्रानहू ते प्यारौ रहै प्यारो तू सदाई, तेरो
पीरो पट सदा जिय बीच फहर्‌यौ करै॥ १॥

आजु लौं जो न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपुनो भाग को पावैं।
जो हरिचंद भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारेजू है जग की यहि रीति बिदा के समै सब कंठ लगावैं॥२॥

लै मन फेरिबो जानौ नहीं बलि नेह निबाह कियो नहिं आवत।
हेरि कै फेरि मुखै हरिचंदजू देखनहू को हमैं तरसावत।
प्रीति-पपीहन को घन-साँवरे पानिप-रूप कबौं न पिआवत।
जानौ न नेक बिथा पर की बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत॥३॥

सुखद समीर रूखी ह्वै कै चलन लागी,
घटि चली रैन कछु सिसिर हिमंत की।
फूलै लागे फूल, फेरि बौर बन आम लागे,
कोकिलैं कुहूकै लागीं माती मदमंत की।
हरीचंद काम की दुहाई सी फिरन लागी,
आवै लागी छन छन सुधि प्यारे कंत की।

जानी परै आयु बिरहीन की सिरानी अब,
आयो चहैं रातैं फेर दुखद बसंत की ॥४॥

रूप दिखाइ कै मोल लियो मन बाल-गुड़ी बहु रंगन जोरी।
चाहत माँझो दियो हरिचंदजू लै अपने गुन की रस डोरी।
फेरि कै नैन परे तन पै बदनामी की तापै लगाइ पुछोरी।
प्रीति की चंग उमंग चढ़ाय कै सो हरि हाय बढ़ाय कै तोरी ॥५॥

ऊधोजू सूधो गहौ वह मारग ज्ञान की तेरे जहाँ गुदरी है।
कोऊ नहीं सिख मानिहैं ह्याँ, इक स्याम की प्रीति-प्रतीति खरी है।
ये ब्रजबाला सबै इक सी, हरिचंदजू मंडली ही बिगरी है।
एक जो होय तो ज्ञान सिखाइए, कूप ही में यहाँ भंग परी है ॥६॥

काले परे कोस चलि चलि थकि गये पाय,
सुख के कसाले परे, ताले परे नस के।
रोय रोय नैनन में हाले परे, जाले परे,
मदन के पाले परे प्रान पर-बस के।
हरीचंद अंगहू हवाले परे रोगन के,
सोगन के भाले परे तन-बल खसके।
पगन में छाले परे, नाँघिबे को नाले परे,
तऊ लाल लाले परे रावरे दरस के ॥७॥

इन दुखियान को न चैन सपनेहूँ मिल्यौ,
तासों सदा व्याकुल बिकल अकुलायँगी।
प्यारे हरिचंदजू की बीती जानि औध प्रान,
चाहत चले पै ये तौ संग ना समायँगी।
देख्यौ एक बारहू न नैन भरि तोहिं, यातें
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछतायँगी।
बिना प्रान-प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय,
मरेहू पै आँखैं ये खुली ही रहि जायँगी ॥८॥

राजा लक्ष्मणसिंह

(अलका वर्णन)

होड़ वहाँ करिहैं बहु भाँतिन तो सँग मन्दिर नीकी छटा के।
तू चपला सुरचाप लिये, उनमें अबला अरु चित्र अटा के।
तो उर नीर, वहाँ भुमि-हीर, मृदंग उतै, इत शोर घटा के।
तुंग है तू, तौ शिखा उनकी परसिद्ध हैं नाम सों अभ्रचटा के ॥१॥

तिय-हाथन केलि-कमोद वहाँ अलकावलि सोहति कुन्दकली।
रजलोध्रप्रसून परे मुख पै दुति दीखति ज्यों पियराई भली।
कुरवा नए चोटिन माहिं लसें अरु कान शरीषन की अवली।
तुहि देखत फूल कदम्ब खिलें सोई माँग धरे सुखमा है भली ॥२॥

स्वेत बिलौर के भौनन में वहाँ फूल से तारकबिम्ब परें नित।
तो मधुरी धुनि के अनुमान मृदंग बजें सुर मन्द भरें नित।
कामिनि भामिनि संग लिये बहु भाँतिन यक्ष विहार करें नित।
पींवत कल्पप्रसूतमधू सिगरे रतिरंग प्रसंग सरें नित ॥३॥

अलकावलि तें गिरि फूल परे गति आतुर माँहि मँदारन के।
अरु कानन तें खिसले अवतंस बने कलधौत-कल्हारन के।
कुच-उन्नति के गुन तें मुकता बिखरे गुन टूटत हारन के।
इन तें वहाँ भोरहि जानि परै मग राति भए अभिसारन के ॥४॥

वहँ प्रीतम ढीठ भए रस के बस हाथ चलावत जोरी करें।
गिर जच्छबधून के बस्त्र कछू खिच छोर छरान की डोरी परें।
दुति निर्मल रत्नप्रदीप धरे सोइ लोइसी आँखिन ओरी जरें।
तिन ऊपर कुंकुम फेंकि बृथा गड़ि लाजन भोरी सी गोरी मरें ॥५॥

वहँ पौन के पेरे कितेकहु बादर तो उनहार के आवत हैं।
जल-बूँदन की बरषा करिके अँगनान के चित्र मिटावत हैं।
भयभीत से फेरि झरोखन ह्वै सिमिटे तन बाहर धावत हैं।
कढ़ि जान को बेगि धुआँ बनिके बड़े चातुर वेहू कहावत हैं ॥६॥

लटकें वहाँ सूत के जाल धरीं मणि इन्दुप्रिया छबि पावती हैं।
सित निर्घन चन्दमरीचिन कों अपने तन खेंचि मिलावती हैं।
फिर उज्ज्वल नीरन की बुँदियाँ हरवें हरवें बरसावती हैं।
गलबाहीं पिया तें छुटी ललना तिनकी रतिग्लानि मिटावती हैं ॥७॥

मीत किन्नरेश रहें नित्त ही महेश यहाँ
जानि यों रतेश चित्त शंका बिसरावे ना।
ताही डर बार बार अलकापुरी के माहिं
भृंग की प्रतिंचा खैंचि चाप पै चढ़ावे ना।
नागरि तियान नैन बिभ्रम प्रताप पाय
कारज में वाके तऊ हानि होन पावे ना।
छूटत कटाक्ष बाँकी भौंह की कमानन तें
कामीरूप बेझो बिना-बेध्यो रहि जावे ना ॥८॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

(धाराधर-धावन)

करि मद अधिक अधिकार में, इक यक्ष प्रभु के शाप सों,
ह्वै बाम बिरही बरषहित, महिमा-रहित, दुखदाप सों,
द्रुम-सघनछाया रामगिरिवर-धाम में निवसन गयो,
श्रीजनकजा-मज्जन-प्रभाव पवित्र जल जहँ ह्वै रह्यो ॥ १ ॥

तहँ कछुक मास बिताइ, अति दुख पाइ, बिरह प्रचंड सों,
गिरिगो कनक भुजबन्द जाके दूबरे भुजदंड सों,
आसाढ़ पहिले द्योस देख्यो शैल पै घन तेहि घनो,
झुकि गढ़-गिरावनहार सुन्दर तुंगवर कुंजर मनो ॥ २ ॥

अभिलाख सों वा मेघ आगे यक्ष ज्यों त्यों भो खरो,
बड़ि बेर आँसुन-बेग रोकत शोकसागर सों भरो;
कछु की कछू ह्वै जात है घन ! जोय संयोगिन दसा,
कह गति बियोगिन की जिन्हैं सालत मिलन की लालसा ? ॥ ३ ॥

नियरान सावन जानि सोच्यो नारि जीवन के लिये,
संदेश अपने छेम को यहि मेघ द्वारा भेजिये;
बन-मालती के फूल नीके लै अरघ दै नेम सों,
मुद मानि स्वागत-बानि बोल्यो बारिधर-प्रति प्रेम सों ॥ ४ ॥

कहँ बापुरो घन धूम - पावक - पवन - जलमय सर्वथा ?
कहँ चतुर धावन सों पठावन-जोग प्रेमिन की कथा ?
इतनिहु बिथा-बस जाँचना, कीन्हीं जलद सों याचना,
चेतन अचेतन भेद देत भुलाय मनमथ-यातना ॥ ५ ॥

पुष्करावर्तक के बिदित बरबंस को अवतंस तू,
है कामरूपी इन्द्र को मन्त्री प्रसिद्ध प्रसंस तू,
सो मैं बियोगी भागबस गुनवन्त गुनि तोहि जाँचहूँ,
माँगेहु गुनी ना देहि तौ भल, भल न खल ते लाभहूँ ॥ ६ ॥

तू है शरन दुखियान को, मैं हूँ दुखी प्रभु-कोप सों।
प्यारी निकट संदेस मो लै जाहु अलका चोप सों।
सो राजधानी है धनद की धाम तहँ उज्जल लसैं।
लहि चाँदनी शिव-चन्द की जो बाग में बाहर बसैं ॥ ७ ॥

धरि धीर तीय पथीन की बिसवास आस बढ़ाय कै,
तोहि ब्योम बीच बिलोकिहैं अलकावलीन उठायकै।
तोहि पाय रैहै भूलि को निज बाम बिरहिनि दीन को।
होवै न परआधीन जो मो सम परम दुखलीन सो ॥ ८ ॥

अनुकूल मारुत मंजु ज्यों तोहि मन्द मन्द चलावही।
तुव बाम दिशि यह मत्त चातक मधुर शब्द सुनावही।
शुभ जानि गर्भाधान - उत्सव बकबधूटिन की अली,
हे नयन - रंजन ! गगन में सेवा करैंगी तुव भली ॥ ९ ॥

भाभी तिहारी हे सखा ! नारी हमारी जो सती,
तेहि अवशि लखिहौ कामचर ! दिन गिन बिरह के जीवती,
इक आस राखति रोकिकै बिरहिनि तिया के प्रान को,
प्रेमानुकूल समूल नत नसि जाय फूल समान सो ॥ १० ॥

जो करत छित को सफल, छत्रक छाय सरस उछाह कै,
सोई सुहावन सोर तुव सुनि मानसर की चाह कै,
लैके कलेऊ कंज कोंपल राजहंसन की अली,
कैलास लौं आकास में करिहैं सखा संगति भली ॥ ११ ॥

श्रीराम - पद के अंक हैं अभिराम जाके लंक में,
यह शैल को गुनि मीत बोलहु प्रीति सों भरि अंक में,
प्रति बरस ये तोहि पाय पूरन प्रेम नेम जनावही,
दीरघ बिरह - संताप सों सन्तप्त अश्रु बहावही ॥ १२ ॥

संदेश निज पीछे कहूँगो जोग औनन-पान के,
घन ! प्रथम पंथ बताइहौं जो जोग तेरे जान के,
तेहि गैल में बिसराम को हैं ठाम शैल-शिखान के ।
तिमि छीनता में सलिल-भोजन बिमल वर सरितान के ॥ १३ ॥

गिरि-शृंग लीन्हे जात मारुत सोचि यौं ऊपर चितै,
चकि सिद्ध रमनी मोहि तुव उत्साह देखेंगी हितै,
चढ़ि यह सुहावन बेत-थल सो जाहु हे घन ! उत्तरै
दिश कुंजरन की पीन सुंडन को दरप जासों हरै ॥ १४ ॥

सुन्दर सरासन पाकशासन को सुहावन सामने
यों लसत बाँबी सों निसरि ज्यों मनिन के रँग मिलि घने,
तेहि सों सजैगो रावरो बपु साँवरो सोभा-सनो
मनु मोर-पंखन-ओप सों हरि-गोप-भेस सुहावनो ॥ १५ ॥

सत्यनारायण कविरत्न

(भ्रमर-दूत)

श्री राधा - वर निजजन-बाधा - सकल - नसावन।
जाकौ ब्रज मनभावन, जो ब्रज को मनभावन।
रसिक सिरोमनि मन-हरन, निरमल नेह - निकुंज।
मोद-भरन उर सुख - करन, अविचल आनँद-पुंज
रँगीलो साँवरौ॥ १॥

कंस मारि भूभार-उतारन खल - दल - तारन।
विस्तारन विज्ञान विमल श्रुति-सेतु-सँवारन।
जन-मन-रंजन सोहना, गुन-आगर चितचोर।
भवभय-भंजन मोहना, नागर नन्द-किसोर
गयो जब द्वारिका॥ २॥

बिलखाती, सनेह पुलकाती, जसुमति माई।
श्याम-बिरह-अकुलाती, पाती कबहुँ न पाई।
जिय प्रिय हरि-दरसन बिना, छिन-छिन परम अधीर।
सोचति मोचति निसि दिना, निसरत नैननु नीर
बिकल कल ना हिये॥ ३॥

पावन सावन मास नई उनई घन-पाँती।
मुनि-मन-भाई छई रसमई मंजुल काँती।
सोहत सुन्दर चहुँ सजल, सरिता पोखर ताल।
लोल लोल तहँ अति अमल दादुर बोल रसाल
छटा चूई परै॥ ४॥

अलबेली कहुँ बेलि, द्रुमन सों लिपटि सुहाई।
धोये धोये पातन की अनुपम कमनाई।
चातक चलि कोयल ललित बोलत मधुरे बोल।
कूकि कूकि केकी कलित, कुंजनु करत कलोल
निरखि घन की छटा॥ ५॥

इन्द्रधनुष औ इन्द्रबधूटिन की सुचि सोभा।
को जग जनम्यो मनुज, जासु मन निरखि न लोभा।
प्रिय पावन पावस लहरि, लहलहात चहुँ ओर।
छाई छवि छिति पै छहरि ताको ओर न छोर
लसै मन मोहनी॥ ६॥

कहूँ बालिका-पुंज कुंज लखि परियत पावन।
सुख-सरसावन सरल सुहावन हिय सरसावन।
कोकिल-कंठ-लजावनी, मनभावनी अपार।
भ्रातृ-प्रेम-सरसावनी, रागत मंजु मल्हार
हिंडोलनि झूलतीं॥ ७॥

बालबृन्द हरसत उर-दरसत चहुँ चलि आवैं।
मधुर मधुर मुसकाइ रहस-बतियाँ बतरावैं।
तरुवर डार हलावहीं, 'धौरी' 'धूमरि' टेरि।
सुन्दर राग अलापहीं, भौंरा चकई फेरि
विविध क्रीड़ा करैं॥ ८॥

लखि यह सुखमा-जाल लाल निज बिन नँदरानी।
हरि सुधि उमड़ी घुमड़ी तन उर अति अकुलानी।
सुधि बुधि तजि माथौ पकरि, करि करि सोच अपार।
दृग-जल मिस मानहु निकरि, बही बिरह की धार
कृष्ण रटना लगी ॥ ९ ॥

कृष्ण-विरह की बेलि नई ता उर हरियाई।
सोचन अश्रु-विमोचन दोउ दलबल अधिकाई।
पाइ प्रेम-रस बढ़ि गई, तन-तरु लिपटी धाइ।
फैल फूटि चहुँघा छई, बिथा न बरनी जाइ
अकथ ताकी कथा ॥१०॥

कहति विकल मन महरि कहाँ हरि ढूँढ़न जाऊँ।
कब गहि लालन ललकत-मन गहि हृदय लगाऊँ।
सीरी कब छाती करौं, कब सुत दरसन पाउँ।
कबै मोद निज मन भरौं, किहि कर धाइ पठाउँ
सँदेसो श्याम पै ॥११॥

पढ़ी न अक्षर एक, ज्ञान सपने ना पायो।
दूध दही चारत में सबरो जनम गमायो।
मात-पिता बैरी भये, शिक्षा दई न मोहि।
सबरे दिन योंही गये, कहा कहे तें होहि
मनहिं मन में रही ॥१२॥

सुनी गरग सों अनुसूया की पुण्य कहानी।
सीता सती पुनीता की शुठि कथा पुरानी।
विषद - ब्रह्मविद्या - पगी मैत्रेयी तिय - रत्न।
शास्त्र-पारगी गारगी, मन्दालसा सयत्न
पढ़ीं सब की सबै ॥१३॥

निज निज जनम धरन को फल उनने ही पायो।
अविचल अभिमत सकल भाँति सुन्दर अपनायो।
उदाहरनि उज्ज्वल दयो, जग की तियनि अनूप।
पावन जस दस-दिसि छयो, उनको सुकृति सरूप
पाइ विद्या बलै ॥१४॥

नारी - शिक्षा निरादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेस - अवनति प्रचंड - पातक अधिकारी।
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समुझि सब कोइ।
विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होइ
लखौ अजमाइ के ॥१५॥

कोनैं भेजौं दूत, पूत सों बिथा सुनावै।
बातन में बहलाइ, जाइ ताकों यहँ लावै।
त्याग मधुपुरी सों गयो, छाँड़ि सबन को साथ।
सात समुन्दर पै भयो, दूरि द्वारिकानाथ
जाइगो को उहाँ ॥१६॥

नास जाइ अक्रूर क्रूर तेरो बजमारे।
बातन में दै सबनि लै गयो प्रान हमारे।
क्यों न दिखावत लाइ कोउ, सूरति ललित ललाम।
कहँ मूरति रमनीय दोउ, श्याम और बलराम
रही अकुलाइ मैं ॥१७॥

अति उदास, बिन आस, सबै-तन-सुरति भुलानी।
पूत प्रेम सों भरी परम दरसन ललचानी।
बिलपति कलपति अति जबै, लखि जननी निज श्याम।
भगत भगत आये तबै, भाये मन अभिराम
भ्रमर के रूप में ॥१८॥

ठिठक्यो, अटक्यो भ्रमर, देखि जसुमति महरानी।
निज-दुख-सों अति-दुखी ताहि मन में अनुमानी।
तिहि दिसि चितवत चकित-चित, सजल जुगल भरि नैन।
हरि - वियोग - कातर अमित, आरत गद - गद बैन
कहन तासों लगी ॥१६॥

'तेरो तन घनश्याम श्याम घनश्याम उतैं सुनि।
तेरी गुंजन सुरलि मधुप, उत मधुर मुरलि धुनि।
पीत रेख तव कटि बसत, उन पीताम्बर चारु।
विपिन-विहारी दोउ लसत, एक रूप सिंगार
जुगल रस के चखा ॥२०॥

'याही कारन निज प्यारे ढिंग तोहि पठाऊँ।
कहियो वासों बिथा सबै जो अबै सुनाऊँ।
जैयो षटपद धाय कें, करि निज कृपा बिसेस।
लैयो काज बनाय कें, दै मो यह सन्देश
सिदोसौ लौटियो ॥ २१ ॥

'जननी-जन्मभूमि सुनियत स्वर्गहु सों प्यारी।
सो तजि सबरो मोह साँवरे तुमनि बिसारी।
का तुम्हरी गति मति भई, जो ऐसौ बरताव।
किधौं नीति बदली नई, ताकौ पर्यौ प्रभाव
कुटिल विष को भर्यौ ॥२२॥

'माखन कर पौंछन सों चिक्कन चारु सुहावत।
निधुबन श्याम तमाल रह्यो जो हिय हरसावत।
लागत ताके लखन सों, मति चलि वाकी ओर।
बात लगावत सखन सों आवत नन्द-किशोर
कितहुँ सों भाजिकें ॥२३॥

वुही कलिन्दी-कूल कदम्बन के बन छाये।
बरन बरन के लता-भवन मन-हरन सुहाये।
वुही कुन्द की कुंज, ये परम-प्रमोद समाज।
पै मुकुन्द बिन बिस-मये, सारे सुखमा साज
चित्त वाँ ही धर्यौ ॥२४॥

'लगत पलास उदास, शोक में अशोक भारी।
बौरे बने रसाल, माधवी लता दुखारी।
तजि तजि नित प्रफुलित पनौ, बिरह-बिथित अकुलात।
जड़ हू ह्वै चेतन मनौ, दीन मलीन लखात
एक माधौ बिना ॥२५॥

'नित नूतन तृन डारि सघन बंसीबट छैयाँ।
फेरि-फेरि कर-कमल, चराईं जो हरि गैयाँ।
ते तित सुधि अति ही करत, सब तन रहीं झुराय।
नयन स्रवत जल, नहिं चरत, व्याकुल उदर अघाय
उठाये म्हौं फिरैं ॥२६॥

'बचन-हीन ये दीन गऊ दुख सों दिन बितवत।
दरस-लालसा लगी चकित-चित इत-उत चितवत।
एक संग तिनकों तजत, अलि कहियो, ए लाल।
क्यों न हीय निज तुम लजत, जग कहाय गोपाल
मोह ऐसो तज्यो ॥२७॥

'नील-कमल-दल-श्याम जासु तन सुन्दर सोहै।
नीलाम्बर वसनाभिराम विद्युत मन मोहै।
भ्रम में परि घनश्याम के, लखि घन श्याम अगार।
नाचि नाचि ब्रजधाम के, कूकत मोर अपार
भरे आनन्द में ॥२८॥

'यहँ को नव नवनीत मिल्यो मिसरी अति उत्तम।
भला सके मिलि कहाँ शहर में सद याके सम।
रहै यही लालो अजहुँ, काढ़ति यहि जब भोर।
भूखो रहत न होइ कहुँ, मेरो माखन-चोर
बँध्यो निज देव को ॥२६॥

'वा बिनु को ग्वालनु को हित की बात सुझावै।
अरु स्वतन्त्रता, समता, सहभ्रातृता सिखावै।
यदपि सकल विधि ये सहत, दारुण अत्याचार।
पै न कछू मुख सों कहत, कोरे बने गँवार
कोउ अगुआ नहीं ॥३०॥

'भये संकुचित-हृदय भीरु अब ऐसे भय में।
काऊ को विश्वास न निज-जातीय-उदय में।
लखियत कोउ रीति न भली, नहिं पूरब अनुराग।
अपनी अपनी ढापुली, अपनो अपनो राग
अलापैं जोर सों ॥३१॥

'नहिं देशीय भेष भावनु की आशा कोऊ।
लखियत जो ब्रजभाषा, जाति हिरानी सोऊ।
आस्तिक बुधि बन्धनन से, बिगरीं सब मरजाद।
सब काऊ के हिय बसे, न्यारे न्यारे स्वाद
अनोखे ढंग के ॥३२॥

'वेलि नवेली अलबेली दोउ नम्र सुहावैं।
तिनके कोमल सरल भाव को सब यस गावैं।
अबकी गोपी मदभरी, अधर चलै इतराय।
चार दिना की छोहरी, गई ऐसी गरवाय
जहाँ देखो तहाँ ॥३३॥

'गोबरधन कर-कमल धारि जो इन्द्र लजायौ।
तुम बिन सो तिह को बदलौ अब चहत चुकायौ।
नहिं बरसावत सघन अब, नियमपूरवक नीर।
जासों गो-कुल होत सब, दिन दिन परम अधीर
न्यार सपनो भयो ॥३४॥

'गोरी कों गोरे लागत जग अति ही प्यारे।
मो कारी कों कारे तुम नयननु के तारे।
उनको तो संसार है, मो दुखिया को कौन।
कहिये, कहा विचार है, जो तुम साधी मौन
बने अपस्वारथी ॥३५॥

'पहले को सो अब न तिहारो यह बृन्दावन।
याके चारों ओर भये बहुबिधि परिवर्तन।
बने खेत चौरस नये, काटि घने बन पुंज।
देखन कों बस रहि गये, निधुबन सेवा-कुंज
कहाँ चरिहैं गऊ ॥३६॥

'पहली सी नहिं या यमुना हू में गहराई।
जल को थल, अरु थल को जल अब परत लखाई।
कालीदह कौ ठौर जहँ चमकत उज्जल रेत।
काछी माली करत तहँ, अपने अपने खेत
घिरे झाऊनि सों ॥३७॥

'नित नव परत अकाल काल को चलत चक्र चहुँ।
जीवन को आनन्द न देख्यो जात यहाँ कहुँ।
बढ़्यो यथेच्छाचार-कृत जहँ देखो तहँ राज।
होत जात दुर्बल विकृत दिन दिन आर्य - समाज
दिनन के फेर सों ॥३८॥

जे तजि मातृभूमि सों ममता होत प्रवासी।
तिन्हें बिदेसी तंग करत दै विपदा खासी।
नहिं आये—निरदय दई, आये—गौरव जाय।
साँप-छछूँदर गति भई, मन ही मन अकुलाय।
रहे सब के सबै ॥३६॥

'टिमिटिमाति जातीय-जोति जो दीप-शिखा सी।
लगत बाहिरी व्यारि बुझन चाहत अबला सी।
शेष न रह्यो सनेह को, काहू हिय में लेस।
कासों कहिये गेह को देसहि में परदेस
भयो अब जानिये' ॥४०॥

जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

(उद्धव-शतक)

(१)

आँसुनि की धार औ उभार कौं उसाँसनि के
तार हिचकीनि के तनक टरि लेन देहु।
कहै रतनाकर फुरन देहु बात रंच
भावनि के बिषम प्रपंच सरि लेन देहु।
आतुर ह्वै और हू न कातर बनावौ नाथ
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लौं सबै
नैंकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु॥

(२)

रावरे पठाए जोग देन कौं सिधाए हुते
ज्ञान-गुन-गौरव के अति उदगार मैं।
कहै रतनाकर पै चातुरी हमारी सबै
कित धौं हिरानी दसा दारुन अपार मैं।
उड़ि उधिरानी किधौं ऊरध उसासनि मैं
बहि धौं बिलानी कहूँ आँसुनि की धार मैं।
चूर ह्वै गई धौं भूरि दुख के दरेरनि मैं
छार ह्वै गई धौं बिरहानल की झार मैं॥

(३)

सीत-घाम-भेद खेद सहित लखाने सबै
भूले भाव भेदता - निषेधन - बिधान के ।
कहै रतनाकर न ताप ब्रजबालनि के
काली-मुख-ज्वाल ना दवानल समान के ।
पटकि पराने ज्ञान-गठरी तहाँ हीं हम
थमत बन्यौ ना पास पहुँचि सिवान के ।
छाले परे पगनि अधर पर जाले परे
कठिन कसाले परे लाले परे प्रान के ॥

(४)

ज्वालामुखी गिरि तैं गिरत द्रवे द्रव्य कैधौं
बारिद पियौ है बारि बिष के सिवाने में ।
कहै रतनाकर कै काली दाँव लेन-काज
फेन फुफकारै उहिं गावँ दुख-साने मैं ।
जीवन बियोगिनि कौ मेघ अँचयौ सो किधौं
उपच्यौ पच्यौ न उर ताप अधिकाने मैं ।
हरि-हरि जासौं बरि-बरि सब बारी उठैं
जानैं कौन बारि बरसत बरसाने मैं ॥

(५)

लैकै पन सूछम अमोल जो पठायौ आप
ताकौ मोल तनक तुल्यौ न तहाँ साँठी तैं ।
कहै रतनाकर पुकारे ठौर-ठौर पर
पौरि बृषभानु की हिरान्यौ मति नाठी तैं ।

लीजै हेरि आपुहीं न हेरि हम पायौ फेरि
याही फेर माहिं भए माठी दधि-आँठी तैं।
ल्याए धूरि पूरि अंग अंगनि तहाँ की जहाँ
ज्ञान गयौ सहित गुमान गिरि गाँठी तैं।।

(६)

ज्यौंहीं कछु कहन सँदेस लग्यौ त्यौंहीं लख्यौ
प्रेम पूर उमँगि गरे लौं चढ़्यौ आवै है।
कहै रतनाकर न पावँ टिकि पावैं नैंकु
ऐसौ दृग-द्वारनि स-बेग कढ़्यौ आवै है।
मधुपुरि राखन कौ बेगि कछु ब्यौंत गढ़ौ
धाइ चढ़ौ बट कै न जौपै गढ़्यौ आवै है।
आयौ भज्यौ भूपति भगीरथ लौं हौं तौ नाथ
साथ लग्यौ सोई पुन्य-पाथ बढ़्यौ आवै है।।

(७)

जैहै ब्यथा बिषम बिलाइ तुम्हैं देखत हीं
तातैं कही मेरी कहूँ झूँठि ठहरावौ ना।
कहै रतनाकर न याही भय भाषैं भूरि
याही कहैं जावौ बस बिलँब लगावौ ना।
एतौ और करत निबेदन स-बेदन हैं
ताकौ कछु बिलग उदार उर ल्यावौ ना।
तब हम जानैं तुम धीरज-धुरीन जब
एक बार ऊधौ बनि जाइ पुनि जावौ ना।।

(८)

छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना कैं तीर
गौन रौन-रेती सौं कदापि करते नहीं।
कहै रतनाकर बिहाइ प्रेम-गाथा गूढ़
स्रौन - रसना मैं रस और भरते नहीं।
गोपी-ग्वाल-बालनि के उमड़त आँसू देखि
लेखि प्रलयागम हूँ नैंकु डरते नहीं।
होतौ चित-चाव जौ न रावरे चितावन कौ
तजि ब्रज-गावँ इतै पावँ धरते नहीं॥

(९)

भाठी कै बियोग जोग-जटिल-लुकाठी लाइ
लाग सौं सुहाग के अदाग पिघलाए हैं।
कहै रतनाकर सुबृत्त प्रेम-साँचे माहिं
काँचे नेम संजम निबृत्त कै ढराए हैं।
अब परि बीच खीचि बिरह-मरीचि-बिंब
देन लव लाग की गुबिंद-उर लाए हैं।
गोपी - ताप - तरुन - तरनि - किरनावलि के
ऊधव नितान्त कान्त मनि बनि आए हैं॥

रामप्रसाद त्रिपाठी

(मुक्तक-माला)

(१)

एक ही सुदामा पाइ आजु लौं सुदामा रहे,
अब तौ सुदामन की भीरि भरि आई है.
भाग सौं अभाग सौं हमारे कै तिहारे नाथ !
नाम के कमाइबे की ऐसी घरि आई है;
चाटुकारिता की चाह इन सौं न राखौ रंच,
चाउर न लाई चाव उर धरि आई है,
चूकं तौ चुकैगी चारुताई, चतुराई सबै,
सूखैगी तिहारी जेती हरि हरिआई है।

(२)

अब तौ तिहारे संग खेलिबौ न भावै रंग,
तुम कौं न काम-धाम, हौं तौ कामवारो हौं;
तुम तौ छबीले छैल गैल-गैल मारे फिरौ,
नाम सौं तुम्हैं न काम, हौं तौ नामवारो हौं;
तुम तौ लता लौं लहरात, छहरात रहौ,
याही सौं अदाम सदा, हौं तौ दामवारो हौं;
कारे रंगवारे कामरी सौं मुखवारे रहौ,
छाँह छिति धारे रहौ, हौं तो धामवारो हौं।

(३)

जकि थकि सोचै एक पथिक बिचारो, धिक,
जीवन हमारौ मोंहि दिग-भ्रम भारी है;
लिखि-लिखि हारो रोय, रचि-पचि हारो खोय,
बकि भखि हारो नहिं मिलति उजारो है;
कोऊ करै केतो पुरुषारथ अकारथ है,
जौलौं रत-स्वारथ है, बिरत दुखारी है;
प्रेम हरियारी जित, छेम की बयारी नित,
नेम की उजारी चल नचत मुरारी है।

(४)

बंचक! तिहारे फर-फन्द छर-छन्दन कों,
सोचिबे-सुनाइबे को मन है न बानी है;
बादर सौं रोइ-रोइ पाटि दीने सागर हैं,
छीन-हीन-दीन तऊ मीनन में पानी है;
कहाँ लौं सुनावैं हम, कहाँ लौं सुनौगे तुम,
यह अनुराग औ बिराग की कहानी है;
मोह-छोह-खानी, अनुरक्त-रक्त-सानी, ज्ञान-
मान बिलगानी वा दुरन्त की निसानी है।

(५)

कोऊ कहै सालक हैं, कोऊ कहै घालक हैं,
कोऊ कहैं पालक हैं जन के, जहान के;
जनम ते पायो इन्हें आजु लौं न देखि, लेखि,
पायो ओर-छोर इनके न गुन-मान के;

केते नाँध नाघे औ उलाँघे हू उपाय केते,
केते बाँध-बाँधे ज्ञान-ध्यान-अनुमान के ;
तौ हू सौंह तेरी कहौं अजहूँ न बूझि पायो,
साधन हैं प्रान के, कि धन निरबान के।

(६)

जाकी गुन-गरिमा मही मैं, ही मैं राजि रही,
साजि रही जाके हित प्रकृति सुसारी है ;
जाके ज्ञान-जोग की चहूँघा चरचा है चारु,
जोगिन मैं अरचा है ऐसी छबि न्यारी है ;
वाकौ रूप देखिबे को, गुन अवरेखिबे को,
हौं हूँ गई जापै ब्रज-रानी बलिहारी है ;
प्रेम-मूठि मारी, जौ लौं हिय कौ सँभार करौं,
तौ लौं तकि नैननि अबीर-मूठि मारी है।

(७)

ऊँची गिरि-चोटिन सों छूटि चली जा दिन सौं,
ता दिन सौं चंचल चलाचल लगी रहै ;
सीस धुनि पाहन पै, काँकरीली राहन पै,
छाती छिली जाति कुंज-कानन ठगी रहै ;
व्याकुल ह्वै धावै नित नीची गति पावै तापै,
नारन-पनारन की कीचि सौं पगी रहै ;
पावै छिन एक हू बिराम न अराम जौलौं,
त्यागि नाम-रूप ह्वै न सिन्धु की सगी रहै।

(८)

नैन बुझाइ-बुझाइ थके, अनुराग की आगि बरोई करै,
कोटि निरास-कुठार चलै, तऊ प्रेम की बेलि फरोई करै ;
नैननि नीर बह्यो करै पै उर-अन्तर नेह भरोई करै,
मौन रहैं हिय हारि तऊ, रसना तव नाम ररोई करै ॥

(९)

ऊधौ कहा तुम सौं कहनो, तुम तौ इन बातन कौ नहिं जानौ,
आपुहि आपनी बात कहौ, तुम आप न आपने कौ पहिचानौ ;
प्रेमिन के मन मैं, तन मैं, कन आपनपौ कौ न एक थिरानौ,
नारिन की गति की, मति की, न अनारिन के मत मैं रहि मानौ ॥

रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

(उद्धव-गोपी-संवाद)

(१)

ऊधौ जू कहौ तौ कैसो जोग कै कुजोग भयो,
रोग भयो, कैसे भये ऐसे आप जातैं है ?
अलख लखात, ना लखात लख क्यौं हूँ तुम्हें,
हौ तौ गुनवारे तऊ बेगुन की बातैं है ;
दीखै आतमाकुल प्रकास आतमाकुल हूँ,
जगत के द्यौस सो 'रसाल' तुम्हैं रातैं हैं ;
बातैं हैं तिहारी ये अनोखी भंग-रंग-वारी,
रंग-भंग-वारी कै तिहारी घनी घातैं हैं।

(२)

मग न दिखात सूधो, मगन दिखात ऊधौ,
मगन दिखात कीन्हैं आपु ही मैं आपु कौ ;
मानौ औ प्रमानौ और, जानौ-अनुमानौ और,
औरई बखानौ ना ठिकानौ कछू आपु कौ ;
ब्रह्म सबै जो पै, तौ 'रसाल' भेद-भाव कैसो,
कैसैं हमैं गोपी लखौ ऊधौ आपु आपु कौ ?
बोधौ आपु स्याम कौ, प्रबोधौ किधौं गोपिन कौ,
ब्रह्म कौ प्रबोधौ कै प्रबोधौ आप आपु कौ ?

(३)

श्री हरि-सुदर्सन कौ सेइ-सेइ ऊधौ ! हमैं,
बान यौं परी कि बिना ताके दुख मानैं हैं ;
मोहन-बसीकर-प्रयोग चलि पावै बस,
मारन-उचाटन की भीतिहू न आनैं हैं ;
दूजे अस्त्र-सस्त्रन की चरचा चलावैं कहा,
भव के त्रिसूल हू कौ फूल करि जानैं हैं ;
हम ब्रजवासिनी उदासिनी हैं ऐसी तब,
हम पै बृथा ही ब्रह्म-अस्त्र आप तानैं हैं ।

(४)

दीखै जो सदाई दुखदाई हरिद्रोन को,
प्रभु-पद-मोहिन को सुखद सहारो है ;
सन्तत ही श्री हरि-सुदर्सन हमारैं ऐसो—
रहत सबैई ओर छायो छबि-वारो है ;

पुनि सुख-कन्द ब्रज-चन्द को पियूष पाइ,
अमर 'रसाल' भयो जीवन हमारो है;
तब तुम बार-बार हम पै चलावत जो,
ऊधौ! ब्रह्म-अस्त्र बृथा हम तै तिहारो है।

(५)

उचित नहीं है मान-हार तुम सौं जौ बेहिं,
अनुचित है जौ जयमाल पहिरावै हैं;
याही तैं बिबाद, बकवाद करि बाद सबै,
रमत रसाल' जामैं तामैं जी रमावैं हैं;
कहि सुनि लीनो, कहिबौ औ सुनिबौ जौ हुतो,
सूधौ अब ऊधौ! यह कहि रहि जावैं हैं;
आवैं तौ इहाँ वे भले आवैं कूबरीयै लै कै,
जौ पै बिना कूबरी न क्यौंहू चलि पावैं हैं॥

(६)

मोहन-बिथा की कथा आपहू सुनावैं ऊधौ!
मोहन-बिथा की कथा हमहूँ सुनावैं हैं;
हम ब्रज-चन्द बिना हैं परी महा तम मैं,
आपने महातम मैं आप अकुलावैं हैं;
हम-तुम दोऊ एक, देखौ टुक टारि टेक,
अन्तर जौ नैक सो बिबेक कै बतावैं हैं;
हम गुन गावैं निगुनी ह्वै सगुनी के नीके,
आप गुनी ह्वै कै निगुनी के गुन गावैं हैं॥

(७)

यह औसर स्याम-कथा कौ मिलो, सो गयो रसना की रलारली मैं,
कहिबे-सुनिबे की रही सो रही, इन बातन ही की बलाबली मैं ;
मन-मीन मलीन मरे से परे, यहि ज्ञान की कोरी दलादली मैं,
मन-भावती हू कहि जाते कछू , अब ऊधव ! ऐसी चलाचली मैं ॥

हरदयालु सिंह

(दिलीप)

(१)

कूजन लागे बिहंगन के गान,
लालिमा अम्बर में कछू छाई ।
पूज्यो नरेस-तिया रिषि-धेनु कौ,
अच्छत गन्ध औ माल चढ़ाई ।
बाँध्यो दिलीप महीप बछाहिं
पियो जेहि ने हुतौ छीर अघाई ।
कानन माँहि चराइबे काज
यसोधन छोर्यो मुनीस की गाई ॥

(२)

पग धारिकै ना मग-रेनु कौ धेनु,
पुनीत हुती किती बार बनाई।
पति-देव-तियानि में जासु की रेख
बिरंचि महा मुद मानि खँचाई।
तन छाँह सौं रानि चली नृप के संग,
या बिधि सौं सुखमा बगराई।
स्तुति अर्थन के ज्यों चलें अनुकूल,
सबै बिधि सों स्मृति आपु सहाई॥

(३)

सिन्धु अगाध दया के महीप
रहे अपने जस सों छबि छाई।
जायकै थोरिहि दूरि दियौ,
नर-नायक ने बनिता पलटाई।
चारिहु सिन्धु-पयोधर सों,
बसुधा जो रही सुरभी लौं सहाई।
पालन वाकौ कियो—नरपाल,
दिये निज चौगुनौ चाव चढ़ाई॥

(४)

या बिधि धेनु को सेवत आपु
महीप सप्रेम महाव्रत-धारी।
सेवक बृन्दन दीन्ह्यो सबै,
पलटाय लगे जे नरेस पिछारी।
आपने ही बल से मनु बंस
बिभूति करैं अपनी रखवारी।
औरन के न भरोसे रहैं,
कबहूँ कुल की मरजाद बिचारी॥

(५)

लै कै सवाद-सने तिन कों,
अपने कर सों ससनेह खवावत।
डाँसनहूँ कों उड़ाय कबों
निज पानि सों देह कहूँ खुजवावत।
जात सुछन्द चली जहँ धेनु
तहाँ तहँ जात महीप सुहावत।
या विधि सौं मनु-बंस-निकेत,
रहे तेहि सेवन में मन लावत॥

(६)

ठाढ़ि भई जितई चलि धेनु,
महीपहु ठाढ़े भये तहाँ जाय कै।
औ जहँ बैठि गई सुरभी,
नरनाह हू बैठि गये हरषाय कै।
पानिप डार्यौ तबै मुख माँहि,
पियौ जब ही जल गाय अघाय कै।
या बिधि भूपति संग चले,
उपमा तन-छाँह की मंजुल जाय कै॥

(७)

चामर छत्र महीप के चिन्ह.
दिलीप सबै मुद मानि कै त्यागे।
पै निज तेज विसेष सौं भूप,
धराधिप आपु सबै बिधि लागे।
ज्यौं मद-वारि के धारन की
मदरेख नहीं दरसावत आगे।
वा गजराजहिं की उपमाहि
लजाय चले नरनाह सभागे॥

(८)

कुंचित१- केस - कलापनि मंजु
लता के प्रताननि खैंचि बनाये।
औ बिचरयौ लगै कानन में
रतिनायक लौं सर चाप चढ़ाये।
त्यों मुनि-धेनु के रच्छन काज,
महीपति कानन में यों सुहाये।
हिंसक-जीवन कों बन के
मनु प्रेम की पाटी पढ़ावन आये॥

(९)

जल-भूप लौं धारे महा तप तेज,
महीप जबै बनभूमि में आये।
अस आवन सौं पहिले ही उतै
सबै सेवक बृन्दनि कौ पलटाये।
बर-पादप-राजि महा मुद मानि
धराधिप के जय घोष सुहाये।
मदमाते बिहंगम के कल कूजन
कान ही सों मनौ गाय सुनाये॥

(१०)

पौन प्रचंड सो प्रेरित ह्वै कै,
किती तहाँ लोनी लता अनुरागी।
बन्दन-जोग महीप पै जासु,
कलेवर ओप बरै मनु आगी।
मंजु प्रसूननि की अवली,
यहि भाँति सबै बरसावन लागी।
गावँ की बालिका लाजनि लै,
यथा अवसर डारै महारस पागी॥

(११)

धेनु के पीछे दिलीप महीप,
चले बन में सर-चाप चढ़ाये।
देखन लागी तऊ हरिनी,
नर-नायक की दिसि दीठि लगाये।
जानि कै वाको महा छमावान
सबै हिय के भय को बिसराये।
या बिधि आपने आयत चारु
बिलोचन कौ सब ही फल पाये॥

(१२)

कीचक छेदनि मैं भरिकै
निकरै कहूँ तीखे समीरन जाई।
कानन कुंजन में बनदेव
रहे नृप की कल कीरति गाई।
माधुरता औ मनोहरता पै
करै मुरली धुनि की समताई।
दोहुन के मृदु मंजु अलाप की
तान परी नृप कानन आई॥

(१३)

पहारनि के झरनानि कै सीतल,
बारि-कनानि कौ संग उड़ाय।
हलाय कै पादप-पुंजनि कौ
पुहुपानि की गन्ध लिये सुखदाय।
महीपति कौ यहि भाँति सौ पौन
दियो सिगरो मग-खेद भगाय।
धरे नहीं छत्र; पवित्र चरित्र,
रहे रवि-आतप सौं दुख पाय॥

(१४)

पावन पाथ की एकहू बूँद
कहूँ बसुधा पै परी हुती नाहीं।
तौहू बुझाइ गईं सबै आगि
लगी जो हुती घने कानन माहीं।
औ बलसाली कोऊ बनजन्तु
दियो दुख नेकु न निर्बल काहीं।
पादप देन लगे फल-फूल
जहाँ धनु धारे चले नृप जाहीं॥

(१५)

कानन-भूमि के छोरनि लौं,
मति मंजु सौं दोऊ पुनीत बनाई।
दोऊ अनन्द सों आपने आपने
गेहनि कौ चलिबौ ठहराई।
नूतन पल्लव की रँग-चोर
प्रभा रवि की चढ़ी सृंग पै जाई।
औ मुनि-धेनु इतै सुख सौं
निज आश्रम ओर चली हरषाई॥

(१६)

देवता, पितृ तथा अतिथीनि के
जो सत्कार कौ आपु सजाये।
वा सुरभी के पछारी लगे
महिपाल चले अतिसै सुख पाये।
देखिकै दोहुन की सुषमाँहि
बिचार नये हिय में इमि आये।
श्रद्धा मनौ बनि मूर्त्तिमती
सदाचारनि संग महा छबि छाये॥

(१७)

छोटी तलैयिन सौं कढ़तै
नृप केते बराह के बृन्दन लेखे।
त्यों ही अबास महीरुह की दिसि
मंजु मयूरनि आवत पेखे।
बैठे हरेरी मही पै तहाँ
करसायल-जूहनि के अवरेखे।
ह्वै रही स्याम धरा जिनसौं,
बन-भाग को ऐसे दिलीप ने देखे॥

(१८)

पीवर चारु कलेवर होन सौं,
मन्द ही मन्द महीप सिधाये।
चारि हू पीन पयोधर कौ
सुरभी सन जात न भार उठाये।
या बिधि सौं जब ही दोउ लौटि
बसिष्ठ मुनीस के आस्रम आये।
आपनी आपनी चालनि सौं
बन-मारग को रमनीक बनाये॥

(१९)

कानन-भूमि सों प्रान-प्रिया
महिपालहि लौटत रानि निहारी।
आवत मन्दहि मन्द हुते
जो बसिष्ठ मुनीस की धेनु पछारी।
आरस सौं झपके बरुनीन के
कोरनि हूँ कौ सकी नहिं डारी।
भूप को रूप सुधा सम वारि
पियो तिय प्यासे बिलोचनवारी॥

(२०)

मुनीस की धेनु के आगे भई,
मग माँहि नरेस तिया सुखदाय।
चले तेहि पीछे दिलीप महीप,
नहीं तिनकी समता दरसाय।
तिन्हें यहि भाँति सौं आवत देखि
बिचार रह्यौ हिय में इमि आय।
मनौ निसि द्यौस के बीच लसै
अनुरागिनी संध्या महा छबि छाय॥

(२१)

आच्छत-पात्र लिये कर कौल में,
आई दिलीप महीप की रानी।
त्यों ही बसिष्ठ तपोधन धेनु की,
भाँवरैं केती भरी मुद मानी।
नन्दिनी के युग स्रृंग के मध्य को
भाल बिसाल महा सुखदानी।
पूज्यो नरेस तिया तेहि मंजु,
मनोरथ सिद्धि के द्वार सो जानी॥

(२२)

छीर बछाँहि पियावन काज
हुती अतिसै सुरभी अनुरागी।
पै वह ठाढ़ी रही तेहि ठाँव,
लही पुनि पूजा अनन्द सौं पागी।
या बिधि ताको लखै सद्भाव,
प्रतीतहू दम्पति के जिय जागी।
कामदुघा के प्रसादहि सौं,
फल पाइकै भक्त बने बड़भागी॥

(२३)

आपने बाहन के बल सौं
जे अरातिन-बृन्दन कौ बिचलाये ।
संग तिया के तेई सुखदानि,
सदार गुरू-पद बन्दन आये ।
द्यौस के बीतत ही पुनि संध्या-
क्रिया को महीप सबै निबटाये ।
दोहन के अवसान भये
सुरभी को दुऔ पुनि सेवन आये ॥

(२४)

वा सुरभी के समीप धर्यौ
बलि और प्रदीप महा अनुरागे ।
मागधी और दिलीप महीप
बिभावरी में तहाँ आप सभागे ।
सोय गई वह धेनु जबै
तबही बर-दम्पति सोवन लागे ।
प्रात ही ताहि प्रबुद्ध बिलोकि
दुऔ क्रम सौं निंदिया तजि जागे ॥

(२५)

चारु पवित्र चरित्र महीप ने
पूरब ही जस भूरि कमाये ।
दीनन के त्यों उधारन माँहि,
सबै बिधि सौं तन औ मन लाये ।
संग पुनीत प्रिया को लिये,
ब्रत संतति के हित धारि सुहाये ।
या बिधि सौं बन में रहिकै
तिन द्यौस इकीस सनेम बिताये ॥

(२६)

सेवत भूपति मो कौं सदा रहै,
बाइस द्यौसनि सौं स्रम हारी ।
पै परखो इनको अब भाव,
यहै अपने मन माँहि बिचारी ।
देव धुनी के प्रपात समीप,
उगी जहाँ घास हरी हरी भारी ।
भूधर-राज गुहा महँ सो,
चरतै चरतै मुनि धेनु पधारी ॥

(२७)

हिंसक जन्तुहू या बन के,
मन हूँ सौं न पाय सकैं यहि काहीं ।
या लगि भूधर की सुषमाँहि,
निहारत भूप चले मग जाहीं ।
तौ लगि आय उतै तड़प्यौ,
एक केहरि जाकौ लखौ कोउ नाहीं ।
और अचानक ही तिन कूदि,
दबोचि लियौ मुनि-धेनु तहाँ हीं ॥

(२८)

काननराय जबै गरज्यो,
गरराय करी धुनि घोर घनेरी ।
सो नहि बाहर जाय सकी,
औ गुफानि में गूँज भरी बहुतेरी ।
भूधर की सुषमा को निहारति
ही हुती दीठि महीपति केरी ।
दाम सौं बाँधि कै वाको मनो,
सहसा कोउ वा दिसि कों हठि फेरी ॥

(२६)

तौलौं दिलीप महीपति ने,
सहसा निज दीठि मृगेस पै डारी।
पाटल-रंग मुनीस की धेनु कौ,
बैठि गयो मृगराज पछारी।
गेरू-महीधर-सृंग पै लोध कौ
पादप जैसे लसै छबिधारी।
या बिधि गाय को बैठो दबाय,
मृगाधिप को नरनाह निहारी॥

(३०)

चाल सौं आपनी भूपति नै,
मृगराजनहू के गुमान गिराये।
दै सरनागत को अभै-दान,
अरातिन कौं रन में बिचलाये।
पाय पराभव नाहर कौ,
बधिबे को बिचार हिये ठहराये।
दारुन रोष कै या लगि आप,
निषंग ते बानहि बाहर लाये॥

(३१)

पै सर छाँड़न चाह्यौ जबै,
नरनाथ दिलीप महा बलधारी।
औ नख-नौल की चारु-प्रभानि,
जबै तिन सायक-पुंख पै डारी।
या बिधि सिंह कौ मारिबे काज,
जबै अँगुरी तिन बान पै धारी।
नेकहूँ डोल्यो डुलाये नहीं कर,
खैंचि दियो मनो चित्र अगारी॥

(३२)

भूपति की वा बिसाल भुजा,
करि के कर को जो लजावनहारी।
यों जड़ीभूत बिलोकत बाँकुरौ,
रोष भयौ तिनके हिय भारी।
ओषधि मंत्र सौं कीलित सक्ति,
भुजंग सकै ज्यौं कछू न बिगारी।
दाह उठ्योई करै उर में,
लखि के अपराधी अराति अगारी॥

(३३)

आरज-बंसिन के प्रतिपालक,
औ मुनि के कुल की उजियारी।
कौतुक कैसो अनैसो भयो यह,
यों अपने मन माँहि बिचारी।
तौ लगि सिंह-समान-बली सन,
सिंह गऊ जिन दीन्ह्यो पछारी।
मानुषी बानि बनाय के या बिधि,
बोलि उठ्यो पुनि बैन उचारी॥

(३४)

कीन्ह्यो कितौ स्रम आपु महीपति,
पै सब व्यर्थ भयो सो तुम्हारो।
मो तन बान प्रहारन कै,
न बिगारि सक्यो तुम रंच हमारो।
प्रौढ़ प्रभंजन ज्यों बहि वेग सौं,
पादप-पुंज समूल उपारो।
तौ हू महीधर-स्रृंगनि कौं,
सो हिलाय सकै नहिं नेकु बिचारो॥

(३५)

सम्भु के सैल सौं गौर कलेवर
बाहन बैल पै साजै सवारी ।
पीठ कौ ताकी नितै ही पुनीत
करें निज पंकज-पायन धारी ।
किंकर वा ससिसेखर को,
जो निकुम्भ को मित्र कहावै अगारी ।
हो मम कुम्भ सुओदर नाम,
इतौ अपने मन लीजै बिचारी ॥

(३६)

सामुहे दीसत देवन दारु कौ,
जो तरु मंजुल आप सुहायो ।
श्री रतिनाथ-अराति नै या कहँ,
पूत सौं मानि कै लाड़ लड़ायो ।
हेम के कुम्भ पयोधर सौं
निसरे जल कौ जेहि नै रस पायो ।
याहि षड़ानन की जननी,
अपने कर कंजनि सींचि बढ़ायो ॥

(३७)

ह्वै मदमावे कोऊ एक कानन-
चारी मतंग नै गंड खुजायो ।
औ यह मंजु महीरुह की,
सबै छाल कौ या मिसु सौं रघसायो ।
ऐसी तृषा लखि कै यहि की,
गिरिराज-सुता अति सोच बढ़ायो ।
मानौं कुमार-षड़ानन कौ,
अमरारि के बान बिंधे लखि पायो ॥

(३८)

वा दिन से हमैं मौलि-मयंक ने,
याही गुफा को कियो रखवारो।
दीन्ह्यो निदेस नितै ही इतै,
मद-माते मतंगनि कौ मद झारो।
आवै कोऊ पसु जो पै यहाँ,
तेहि खायकै आपनो कीजै गुजारो।
यों मृगराज बनाय के मो कहँ,
दीन्ह्यो खरो गिरिनाथ सहारो॥

(३९)

दारुन पेट की ज्वाल लखो,
हमको नरनाह रही है जराई।
ताहि निवारन काज इतै,
परमेसुर ने मनौ याहि पठाई।
त्यों मृग-अंक के मूरति की
या सुधा सम कैसी लसै सुखदाई।
स्रोनित - पारना राहु - समान,
हमारे लिए इत ही चलि आई॥

(४०)

आन उपाय न दीसै महीपति,
जाइये लाज इतै ही बिहाई।
आपु बरिष्ठ बसिष्ठ की धेनु के
रच्छन में खरी भक्ति दिखाई।
आयुध सौं जेहि के परित्रान में,
जो कहूँ कोहू चलै न चलाई।
तौ तेहि बीरन माँहि कोऊ
अपराधहि रंच सकै न लगाई॥

(४१)

धराधिप ने जब ही यहि भाँति,
ढिठाई भरे हरि के सुने बैन।
मयंक - लिलार - प्रसाद को जानि
कहूँ प्रतिकार तिहूँ पुर है न।
यही लगि मेरी भई जड़ बाहु,
सँहारि सक्यो इक नाहर मैं न।
दिलीप - महीप बिचारि यहै,
अपमान सों रंच लह्यो हिय चैन॥

(४२)

अस्त्र-प्रयोग में भूपति ने
पहिले अपनो स्रम ब्यर्थ निहारो।
जैसे पुरन्दर संकर पै,
निज बज्र प्रहारन हीय बिचारो।
पै तिनके अवलोकत ही
जड़ पानि भयो वह आप बिचारो।
माया मृगाधिप सों अति दीन
अधीन ह्वै मंजुल बैन उचारो॥

(४३)

हौ तुम कानन के अधिराज,
बिचार उठैं इमि यों मन माहीं।
हौ बलि कुंठित बैन भये,
यहि ते परिहास के योग सदाहीं।
जानत हौ सबै प्रानिन के
मन की तुम सों है छिप्यो कछू नाहीं।
या लगि आप से आज कछू,
बिनती करिबे हमहूँ चित चाही॥

(४४)

थावर-जंगम के प्रभु सम्भु हैं,
सो मन मैं भली भाँति बिचारौं।
उद्भव, पालन और सँहार
करैं वेई याहू हिये निरधारौं।
आपु महेस्वर के गन मुख्य हैं,
या सुनि कै अपनो मन मारौं।
आहित - अग्नि मुनीस की धेनु कौ
सामुहे नासत कैसे निहारौं॥

(४५)

कुंठित आयुध या जन की,
बिनती तौ इती सुनिये मृगराई।
आपनी उग्र छुधा कौ निवारन
कीजिये मेरो कलेवर खाई।
देखिये जात दिवाकर हू
अब तौ अपने गृह को सुख पाई।
बच्छहूँ भेटिबे कौ अकुलात है,
दीजिये छाँड़ि मुनीस की गाई॥

(४६)

वा गिरि-कन्दरा माँहि अबै लगि,
छाई हुती घनीभूत अँध्यारी।
आपने दन्त-मयूखनि सौं
तेहि काटि कै कीन्ही खरी उजियारी।
सेवक सो ससिसेखर कौ,
लै अदेस करै गुहा की रखवारी।
कै कछू हास दिलीप - महीप सौं,
या बिधि सौं कह्यौ बैन उचारी॥

(४७)

"एक ही छत्र अखंड - धरा-
प्रभुता लही औ जनता अनुरागत।
कान्त कलेवर पायो भलो
जेहि में नव-यौवन-जोति हू जागत।
तुच्छ गऊ के लिए महिपाल,
इते बड़े वैभव को तुम त्यागत।
साँची कहौं येहि ते तुम मोहिं,
बिचार सौं मूढ़ कछू कछु लागत॥

(४८)

जौ जग जीवन पै यहि भाँति ही,
दीठि दया की बनी रही तेरी।
तौ तुअ अन्त में एक ही धेनु,
कल्यानवती पुनि ह्वैहै घनेरी।
जीवत रैहौ जौ पै प्रजानाथ,
गुनें इत जौ बतियानि को मेरी।
तौ नित बिघ्न बिनासि पिता-सम
पालिहौ आप प्रजा बहुतेरी॥

(४९)

जु पै इक धेनु बिनास ही के
अपराध सौं आपु रहे घबराय।
तथा अनलोपम ता गुरु क्रोध-
कृसानु सौं भूरि रहे भय खाय।
बड़े बड़े कुम्भ से ऐननिवारी,
गऊनि के केतिक दै समुदाय।
महीपति-मौलिन के मन मंजु
सकौ तिनकौ तुम रोष मिटाय॥

(५०)

चारु कल्यान परम्परा सौं युत,
रच्छिये देह महा ब्रतधारी।
भोगिये भोगनि याके महीप
इती सिख मंजुल मानि हमारी।
आठहु सिद्धि नवो निधि के सँग
है महिपै जु पै राज सुखारी।
सोई कहावत है जग माँहि,
सुराघिप की पदवी बड़ी भारी॥

(५१)

मौन ह्वै बैठो मृगाधिप आपु,
धराधिप सौं इनि बैननि भाखी।
औ गिरि कन्दरा में पुनि गूँजि
प्रतिध्वनि वाकी भरी मनो साखी।
सम्भु के सेवक की बतियाँ सुनि,
दीठि गऊ पै महीपति राखी।
नाहर के भय सौं जो रही,
घबराय किये भय-कातर आँखी॥

(५२)

या जग माँहि जु पै कोउ बीर
बिनास सौं औरनै आपु बचावत।
सोई यथारथ माँहि महा
महिमामय छत्रिय कौ पद पावत।
जौ पै कियौ यहि के बिपरीत,
कहा भयौ लाभ मनुष्य कहावत।
धारत हौ सो बृथा ही सरीर,
कलंकित जीवन आपु बितावत॥

(५३)

अनेकन धेनुन के करि दान,
मुनीस कौ क्रोधु निवारौ न जाय ।
यथारथ मैं यह नन्दिनी तौ,
सुरधेनु सौं नून न नेकहू आय ।
बिगारि नहीं सकते तुम हू,
अपने बल सौं यहि को बनराय ।
सुनौ सतिभाव तुम्हैं ससि-मौलि-
उदग्र-प्रताप ने दीन्ह्यो सहाय ॥

(५४)

दै निज कान्त कलेवर दान मैं,
या गऊ के बदले बनराई ।
तौ कहूँ मान्य मुनीस्वर की
सुरभी को सकै केहु भाँति बचाई ।
कारज साधन माँहि दोहून के,
याते न नेकहू हानि लखाई ।
ह्वैहै न लोप क्रिया मुनि-यज्ञ की,
रावरो पारन हू न नसाई ॥

(५५)

या सुर - दारु - महीरुह - रच्छन
माँहि तुम्हारो प्रयास घनेरो ।
हौ तुम हू परतंत्र सखा,
अरु जानत उत्तरदायित मेरो ।
जौ लगि प्रान रहैं तन मैं,
कहो रच्छ बिनास को का बिधि हेरों ।
स्वामि के सौंह सिधाइबे कौं,
हमें और न कोऊ लखात निबेरो ॥

(५६)

जौ अपने मत सौं बनराज,
हमैं नहिं मारन जोग बिचारो।
मो पै दया दरसाय घनी,
मम कीर्त्ति-कलेवर आपु उबारो।
याकौ बिनास अहै निहचै,
मिलि पाँचहू तत्त्वनि जाहि सँवारो।
राखन कों यहि कों मृगराज
न रंचक हूँ अभिलाष हमारो॥

(५७)

प्रेम कौ बन्धन या जग मैं,
सबही कहैं पूरब भाखन काहीं।
सो हमसों तुमरो मृगराज
सुभाग्य ही सौं भयो कानन माहीं।
या लगि मौलि-मयंक के दास,
करी बिनती हम जो तुम पाहीं।
नेह कौ नातौ निबाहिबे मैं,
तुम कैसे हूँ टारि सकौ तेहि नाहीं॥"

(५८)

"ऐसे ही होय दिलीप महीप"
जबै इमि नाहर बैन उचारयौ।
छूट्यो धराधिप को भुजदंड,
हुतो जु पै अस्त्र-प्रयोग मैं हारयौ।
त्यों निज आयुध-बृन्दनि कौं,
नरनायक ने बसुधा पर धारयौ।
आमिष-पिंड लौं आपनी देह,
बनाय कै सिंह के सामुहे डारयौ॥

(५६)

ताकत सिंह के उग्र निपात पै,
चक्रवती उते ध्यान लगाये।
दीठि को नीची किये पुनि आपु,
बसुन्धरा की दिसि सीस नवाये।
या बिधि त्याग लखे नरपाल कौं,
देवन हू के हिये भरि आये।
आपने हाथन सौं तिननै,
फुलवानि महीपति पै बरसाये॥

(६०)

'लालन प्यारे ! उठौ अब आप"
गिरा यह मंजु पीयूष-सिंचाई।
ताही समै हिय कौ सुख-दैन,
परी महिपाल के कानन आई।
आपने सामुहे हेर्यो नरेस,
खड़ी जननी सी पयस्व नीगाई।
पै वह भीखम-काय महा
मृगराज पर्यो कतहूँ न लखाई॥

(६१)

ठाढ़े जके से महीपहिं देखि,
कह्यो सुरभी इमि बैन सुनाई।
हौं ही लख्यो तुमरो अनुराग,
सबै बिधि माया घनी उपजाई।
देखो बसिष्ठ मुनीस के पुण्य-
प्रताप की आप अनूपमताई।
अन्तक हू न बिगारि सकैं कछु,
तुच्छ पसून की कौन चलाई॥

(६२)

"भक्ति बसिष्ठ महा मुनि मैं,
अरु मो पै अपार दया दरसाई।
या तें प्रसन्न भई तुम पै सुत,
माँगहु जो बर तोहि सुहाई।
केवल दूध न देती सुनो,
यह तौ अपने मन लीजै दृढ़ाई।
ह्वै अनुकूल सकौं सिगरे
तुमरे हिय के अभिलाष पुजाई॥

(६३)

यों सुनि याचक बृन्दनि के
मन को अरमान पुरावनवारो।
द्वै बलसाली भुजान ही के
बल सौं बलबीर कहावनवारो।
जोरि दोऊ कर कंज निहोरि,
गिरा इमि मंजुल भूप उचारो।
"मागधी सों उपजै सुत चारु
दिगन्तन लौं जस छावनवारो॥

(६४)

सन्तति - कामनावारे महीप सों,
बोली तबै मुनि - धेनु कल्यानी।
"होयगो बंस चलावनहार
कछू दिन में अतिसय गुनखानी।
लाय पलास के पातन कौ,
तिनको रचि दोनो महा मुद मानी।
ता महँ तात दुहौ मम छीर,
पियौ पुनि ताहि सदा सुखदानी"॥

(६५)

"पान कै छाँड्यो बछा जेहि को
अरु यज्ञ क्रिया सो बचो जितनोई।
पाय निदेस बसिष्ठ मुनीस कौ,
चाहत पान कियो हम सोई।
है ही धराधिप को अधिकार,
करै प्रतिपाल बसुन्धरा जोई।
षष्टम भाग लहै तेहि को,
अरु ताहि अनर्थ कहै नहिं कोई" ॥

(६६)

या बिधि सौं जबै आप दिलीप
महीप ने मंजुल बानि उचारी।
सो सुनिकै अपने मन-माँहि
भई अतिसै मुनि - धेनु सुखारी।
त्याग के स्रृंग हिमालय कौ
चली आपु महीप के ह्वै कै अगारी।
औ मुनिराज के आस्रम कौ
बिनु कीन्हे कछू स्रम मंजु पधारी॥

(६७)

आनन ओप अनूपम सौं,
जिन मंजु-मयंक प्रभा को लजायो।
मान्य महीपन के मनि-मौलि
दिलीप तबै मुनि के ढ़िग आयो।
धेनु अनन्द के चिन्हन हेरि,
प्रसादहिं तासु गुरू कौ जतायो।
मागधी के ढ़िग जाय बहोरि
सबै तेहि कोमुद मानि सुनायो॥

(अयोध्या-कुश-संवाद)

(१)

आधिक राति व्यतीत भई,
अरु दीप-प्रकास लह्यौ मलिनाई।
सोवत हैं सिगरे, कुस के
निंदिया नहिं नैननि मैं नियराई।
ता खन सैन-निकेतन मैं इक
प्रोषिता सी बनिता चलि आई;
जा कुल-अंगना की अब लौं
अवलोकी नहीं कोऊ रूप-लुनाई॥

(२)

राजत राजश्री सोभा अपार
सुरेस लौं तेज प्रताप के धारी।
सत्रुजयी गृही के समुहे
कर जोरि कै 'जैति' कह्यौ सुकुमारी।
अर्गला-वारे अगारनि मैं
तेहि दर्पन-छाया समान निहारी।
आगिलौ गात उठाय कै सेज सौं
तासौं कह्यौ कुस बैन उचारी॥

(३)

गुप्त अगार मैं आई जऊ,
तऊ जोग-प्रभाव लखात न तेरौ।
त्यों दुखिया लौं किये निज वेष,
सरोरुह जैसो तुषार कौ पेरौ।
कौन हौ काकी तिया तुम सुन्दरी,
आइबे मैं इतै कौन निबेरौ।
जानौ कबौ रघुबंसिन तैं,
सपनेहु न आन तियान कौ हेरौ॥

(४)

जाइबे काज जबै निज धाम,
तुम्हारे पिता तजि जाहि सिधारे।
लै गये साथ प्रजा को सबै,
अधिदेवता हौं सुनौ वाकी पियारे।
त्यों ही सुराज की सम्पदा सौं,
अलकापुरिहू कौ सदा धिरकारे।
आपु सरीखे समर्थ महीप के
देखत यों भये हाल हमारे॥

(५)

औध की वा नगरी अब तौ
किती टूटी अटारी अटा धरती है।
त्यों गिरि गौ परकोटौ सबै,
अरु राम बियोगनि में बरती है।
अस्त भये ते दिवाकर के
घन-मंडली ज्यों नभ मो घिरती है।
पौन प्रचंड सों प्रेरित ह्वै तेहि
साँझ सौं होड़ मनौ करती है॥

(६)

जा नृप मारग मैं निसि मैं
पिय को मिलिबे अभिसारिका आवतीं !
नूपुर - पैंजनि - पायल की
झनकार महा सुख - दैनी सुनावतीं।
या मग मैं किती स्यारिनियाँ
अब आमिख-खंडनि ढूँढ़ती धावतीं।
औ रव घोर करैं अतिसै,
मुख सौं चिनगारिन कौं बरसावतीं॥

(७)

प्रमदानि की मंजु गदेरिनि चोटनि
वापिका कौ जल पायौ करैं।
अरु आछी गँभीर मृदंगनि की
धुनि सौं हठि होड़ लगायौ करैं।
अब तौ बन-भैंसनि के बड़े शृंग
प्रहार - झकोरनि खायौ करैं।
यहि भाँति सौं स्रौन - कठोर महा
भयकारी रवै उपजायौ करैं॥

(८)

छतुरीन के टूटिबे तें अब तौ
पुर-केकी तरून पै बैठन लागे।
धुनि पुष्कर की न सुनाई परै कहूँ,
या लगि मंजुल नाचिबौ त्यागे।
निज पूँछ समेटि दवारि की झार सौं
भागिन सौं जे हुते बचि भागे।

अब पालतू मोर महीप सुनौ,
बन - मोरन सौं सबै दीसन लागे ॥

(९)

जावक सौं रँगे पंकज - पायन
सीढ़िन पै रखतीं जहाँ नारी।
धारति केहरि - सौनित सौं सने
पंजनि केते कुरंगनि - मारी।
चित्र लिखे करि कौल - कलाप मैं
लेत पिया सौं मृनालिका प्यारी।
क्रोध सौं कुंभन पै तिनके
नख - अंकुस नाहर देत प्रहारी ॥

(१०)

तियानि की मूरति खंभनि मैं
रँग के बिगरे मटमैली लखाति।
भुजंगनि की केंचुली तिनकौ
ढकिबे हित जारी मनौ बनि जाति।
गयौ सित सौध कौ स्यामल हाय
जमी कुस - पाँति कहूँ दरसाति।
मयंक - मयूख की मोतिन माल
बिभावरी मैं भई व्यर्थ लखाति ॥

(११)

चुनें जहँ फूलनि कौ प्रमदा
झुकी डारनि सौं दया को दरसाय।
उद्यान की मंजु लतानि पुलिंद लौं
कानन के कपि खैंचत हाय।

प्रदीप - प्रकास निसा मैं नहीं,
दिन मैं न तिया मुख-कंज लखाय !
कढ़ै नहिं धूम झरोखनि सौं,
मकरो ने दियौ निज जालौ बिछाय ॥

(१२)

पूजन होत न घाटनि पै अब
या लगि सूने सबै थल लागत ।
त्यौं ही अन्हान समैहूँ कहूँ
अँगरागनि के रँग नीर न रागत ।
कैसो अपूरब फेर भयौ,
सरि - कूल बनीरन की कुटी दागत ।
देखत ही सरयू जल कौ,
खरै खेदनि सौं हमरौ हियौ पागत ॥

(१३)

त्यागिये या लगि या नगरी,
चलिये उत ही इती मानि हमारी ।
जैसे तुम्हारे पिता सुरधाम
गये इतै मानुषी देह कौ डारी ।
"ऐसौ ही ह्वैहै" कह्यौ रघुबंस-
कुमार गिरा तेहि की सुनि प्यारी ।
अंतरधान भई सुख सौं
तुरतै नगरी वा बनी नई नारी ॥

पं० रामचन्द्र शुक्ल

(हृदय का मधुर भार)

ए हो बन, बंजर, कछार, हरे-भरे खेत !
विटप, विहंग ! सुनो अपनी सुनावें हम ।
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम ।
सड़े चले जा रहे हैं बँधे अपने ही बीच,
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम ?
मूल रस-स्रोत हो हमारे वही, छोड़ तुम्हें
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम ? ॥ १ ॥
रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय वे ही
मंगल की योग-विधि पूरी पाल पावेंगे ।
जोड़ के चराचर की सुख-सुषमा के साथ,
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेंगे ।
वे ही उस मँहगे हमारे नर - जीवन का
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेंगे ।
सुमन-विकास, मृदु आनन के हास, खग
मृग के विलास बीच भेद को घटावेंगे ॥ २ ॥
प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं,
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं ।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे
करके पाखंड कला अपनी दिखाते हैं ।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं ।

अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन नित्य
देख अपना ही तंत्री-तार वे बजाते हैं ॥ ३ ॥
भौतिक उन्माद-ग्रस्त योरप पड़ा है जहाँ,
वहीं तेरे चोंचले ये मन बहलावेंगे।
आज अति श्रम से शिथिल जो विराम हेतु,
आकुल है उसका ये टोटके सुलावेंगे।
हम अब उठना हैं चाहते जगत बीच,
भारत की भारती की शक्ति का जगावेंगे।
दंडक ये दंड के प्रहार से लगेंगे तुझे,
भाग भाग भंडता! न तुझको टिकावेंगे ॥ ४ ॥
धर्म, कर्म, व्यवहार, राष्ट्रनीति के प्रचार,
सब में पाखंड देख इतने न हारे हम।
काव्य की पुनीत भूमि बीच भी प्रवेश किंतु
उसका विलोक रहे कैसे धीर धारे हम?
सच्चे भाव मन के न कवि भी कहेंगे यदि
कहाँ फिर जाँयगे असत्यता के मारे हम?
खलेगा 'प्रकाशवाद' जिनको हमारा यह
कहेंगे कुवाद वे जो लेंगे सह सारे हम ॥ ५ ॥
आज चली मंडली हमारी एक घूमे हुए
नाले का कछार धरे और ही उमंग में।
धुँधली-सी धूप धूल-सने वात-मंडल से
ढालती है मृदुता की आभा हर रंग में।
अंजित दृगंचल की कोर से किसी की खुल
रंजित रसा में रसी झूमती तरंग में—
मानों मदभरी ढीली दृष्टि है किसी की बिछी,
मन को रमाती रम जाती अंग अंग में ॥ ६ ॥

धौले, कंकरीले, कटे विकट कगार जहाँ
जड़ों की जटा के जाल खचित दिखाते हैं।
निकल वहीं से पेड़ आड़े बढ़े हुए कई
अधर में लेटे हुए अंग लपकाते हैं।
भूमि की सलिल सिक्त श्यामता में गुछी हरी
दूब के पटल पट शीतल बिछाते हैं।
सारी हरियाली छाँट लाल लाल छींटे बने
छिटके पलाश चित्त बीच छपे जाते हैं॥ ७ ॥
बातें भी हमारे साथ उठी चली चलती हैं,
मोद-पूर्ण मानस के मुक्त हैं अनेक द्वार।
चारों ओर छोटे बड़े शब्द-स्रोत छूट छूट
मिलते बढ़ाते चले जाते हैं अखंड धार।
उठती हैं बीच बीच हास की तरंगें ऊँची,
झोंक में झुलाती टकराती हमें बार बार।
झाड़ियाँ कटीली कर बैठती हैं छेड़छाड़,
उलझ सुलझ कोई पाता है किसी प्रकार॥ ८ ॥
ढाल धरे ऊपर को दुर्रियाँ गई हैं कई
फैले हुए गर्त-जाल बीच से निकलती।
चाव-भरे चले चढ़े जाते हैं चपल गति,
चित्त छोड़ अभी कहीं किसी की न चलती।
गंजिका के गुंफित अरुण हास ओर झाड़,
झापस झपेट छड़ी हाथ से फिसलती।
नीचे पड़ो पैर की धमाक, उड़ी ऊपर को
पक्षियों की टोली फड़कीले पंख झलती॥ ९ ॥
शिग्रुओं की पीवर गँठीली पेड़ियों से फूटी
सरल लचीली टूटी डालियाँ कहीं कहीं।

नील-श्याम-दल-मढ़े छोर छितराए हुए.
शीर्ण मुरझाए फूल-झौंर है झुला रही।
कोरे धुंध धूमले गगनपट बीच खुले,
सेमलों के शाखा-जाल खचित खड़े वहीं।
लसे हैं विशाल लाल संपुट से फूल चोंख,
बसे हैं विहंग अंग जिनके छिपे नहीं ॥१०॥
आए अब ऊपर तो देखते हैं चारो ओर
रूप के प्रसार चित्त-रुचि के प्रचार से।
उछल, उमड़ और झूम सी रही है सृष्टि
गुंफित हमारे साथ किसी गुप्त तार से।
तोड़ा था न जिसे अभी खींच अपने को दूर,
मोड़ा था न मुँह को पुराने परिवार से।
उत्सव में, विप्लव में, शांति में, प्रकृति सदा
हमें थी बुलाती उसी प्यार की पुकार से ॥११॥
धुँधले दिगंत में विलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश की सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अंतर मिटा है चिर,
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत औ भविष्यत की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना सी वहीं भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ में जो रूपता भरी है वही
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है ॥१२॥
निखरी सपाट कोरी चिकनी कठोर भूमि
सामने हमारे श्वेत झलक दिखाती है।
जिसके किनारे एक ओर सूखी पत्तियों की
पांडु-रक्त मेखला रणित हिल जाती है।

आस पास धूल की उमंग कुछ दूर दौड़
दूब में दमक हरियाली की दबाती है।
कंटकित नीलपत्र मोड़ती घमोइयों के
रक्तगभ - पीतपुट - दल छितराती है ॥१३॥
ग्राम के सीमांत का सुहावना स्वरूप अब
भासता है, भूमि कुछ और रंग लाती है।
कहीं कहीं किंचित हेमाभ हरे खेतों पर
रह - रह श्वेत शूक आभा लहराती है।
उमड़ी सी पीली भूरी हरी द्रुम-पुंज घटा
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती जो जाती है।
उसी में विलीन एक ओर धरती ही मानों
घरों के स्वरूप में उठी सी दृष्टि आती है ॥१४॥
देखते हैं जिधर उधर ही रसाल - पुंज
मंजु मंजरी से मढ़े फूले न समाते हैं।
कहीं अरुणाभ, कहीं पीत पुष्पराग - प्रभा
उमड़ रही है, मन मग्न हुए जाते हैं।
कोयल उसी में कहीं छिपी कूक उठी जहाँ,
नीचे बाल-वृंद उसी बोल से चिढ़ाते है।
छलक रही है रस - माधुरी छकाती हुई,
सौरभ से पवन झकोरे भरे आते हैं ॥१५॥
देख देव - मंदिर पुराना एक, बैठे हम
वाटिका की ओर जहाँ छाया कुछ आती है।
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई,
घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है।
क्यारियाँ पटी हैं, लुप्त पथ में उगे हैं झाड़,
बाड़ की न आड़ कहीं दृष्टि बाँध पाती है।

नर ने जो रूप वहाँ भूमि को दिया था कभी,
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है ॥१६॥
मानव के हाथ से निकाले जो गए थे कभी,
धीरे धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती है।
फूलों के पड़ोस में घमोय, बेर औ बबूल
बसे हैं, न रोक टोक कुछ भी की जाती है।
सुख के या रुचि के विरुद्ध एक जीव के ही
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है।
देती है पवन, जल, धूप, सब को समान,
दाख औ बबूल में न भेद भाव लाती है ॥१७॥
मेड़ पर वासक की छिन्न पंक्ति मक्खियों की
भीड़ का बुलाके मधु - बिंदु है पिला रही।
कुंद की धवल हास-माधुरी उसी के पास,
श्वास की सुवास है समीर में मिला रही।
कोमल लचक लिये डालियाँ कनेर की जो,
अरुण प्रसून गुच्छे मोद से खिला रही।
चल चटकीली चटकाली चहकार भरी,
बार बार बैठ उन्हें हाव से हिला रही ॥१८॥
कोने पर कई काविदार पास पास खड़े,
वर्तुल विभक्त दलराशि घनी छाई है।
बीच बीच श्वेत अरुणाभ झलराए फूल
झाँकते हैं सुन "ऋतुराज की अवाई है।"
पत्तियों की कोर के कटाव पर फूली हुई
आँखों में हमारी जपा झोंकती ललाई है।
भौंरे मदमाते मँडराते गूँज गूँज जहाँ,
मधुर सुमन - गीत दे रहा सुनाई है—॥१९॥

"आओ, आओ, हे भ्रमर ! कमनीय कृष्ण-कांतिधर !!
देखो, जिस रूप, जिस रंग में खिले हैं हम
आकुल किसी के अनुराग में अवनि पर।
इसी रूप-रंग में खिला है कोई और कहीं,
जाओ वहीं मधुप सुनाओ गूँज पल भर।
रंग में उसी के चूर, धूल हो हृदय यह
धीरे धीरे उड़ा चला जाता है बिखर कर।
जाओ पहुंचाओ पास प्रिय के हमारे अब
अधिक नहीं तो एक कण मित्र मधुकर!" ॥२०॥

गर्भ में धरित्री अपने ही कुछ काल जिन्हें
धरकर गाद में उठाती फिर चाव से।
औरस सगे हैं वे ही उसके जा हरे हरे
खड़े लहराते पले मृदु क्षीर-स्राव से।
भरती है जननी प्रथम इनका ही निज
भरे हुए पालन औ रंजन के भाव से।
पालते यही हैं, बहलाते भी यही हैं फिर,
सारी सृष्टि उसी प्राप्त शक्ति के प्रभाव से ॥२१॥

तप्त अनुराग जब उर में वसुंधरा का
उठता है लहरें सकंप लहकारता।
देखता है उसे ध्वंस ज्वाला के स्वरूप में तू
प्यार की ललक नहीं उसका विचारता।
निज खंड अनुराग से न मेल खाता देख
नर तू विभीषिका है उसको पुकारता।
दूर कर पालन की शक्ति की शिथिलता को
वही नव जीवन से भरी फूँक मारता ॥२२॥

उसी अनुराग के हैं शीतल विकास सब
कोमल अरुण किशलय क्या कुसुमदल।
नीरव संदेश कहो, प्रेम कहो, रूप कहो,
सब कुछ कहो उन्हें सच्चे रंग में ही ढल।
रंग कैसे रंग पर उड़ उड़ झुकते हैं,
पवन में पंख बने तितली के चाखे चल।
यों जब रूप मिलें बाहर के भीतर की
भावना से, जानो तब कविता का सत्य पल ॥२३॥
गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ
श्वेत धारियों में कई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे
गोरज से धूमले जो खड़े हैं किनारे पर।
उन्हें कई गाएँ पैर अगले चढ़ाए हुए
कंठ को उठाए चुपचाप हो रही हैं चर।
जा रही हैं घाट ओर ग्राम - बनिताएँ कई,
लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर ॥२४॥
इतने में बकते औ झकते से बूढ़े बूढ़े
भगतजी एक इसी ओर बढ़े आते हैं।
पीछे पीछे लगे कुछ बालक चपल उन्हें
'सीताराम सीताराम' कहके चिढ़ाते हैं।
चिढ़ने से उनके चिढ़ाने की चहक और
दल को वे अपने बढ़ाते चले जाते हैं।
कई एक कुक्कुर भी मुँह को उठाए साथ
लगे लगे कंठ-स्वर अपना मिलाते हैं ॥२५॥
कई ललनाएँ औ कुमारियाँ कुतूहल से
टमक गई हैं उसी पथ के किनारे पर।

मंदिर के सुथरे चबूतरे के पास बढ़
सिर से उतार घट-कलश हैं देती धर ।
हावमयी लीला यह देख के भगतजी की
भीतर ही भीतर विनोद से रही हैं भर ।
मुख से तो कहती हैं 'कैसे दुष्ट बालक हैं',
लोचनों से और ही संकेत वे रही हैं कर ॥२६॥
सूहे बास बीच से है फूटती गोराई कहीं,
पीतपट बीच लुकी साँवली लुनाई है ।
भोले भले मुख में कपोल विकसाती हुई
मंद मृदु हास-रेखा दे रही दिखाई है ।
चंचल दृगों की यह चटक निराली ऐसे
जनपद छोड़ और जाती कहाँ पाई है ।
विविध विकास भरी लहलही मही बीच,
घटित प्रफुल्ल द्युति यह सुघड़ाई है ॥२७॥
सामने हमारे जब आया वह दल तब
भगत के पास जाके एक बोला "राधेश्याम" ।
कृपा-दृष्टि अभी पूरी होने भी न पाई थी कि
चट फिर बोल उठा "सीताराम सीताराम" ।
लाठी तान सिर को झुलाते हुए झुक पड़े,
गालियों के साथ झोंक दादा औ पिता के नाम ।
कंधे से दुपट्टा छूट पड़ा लहराता, बढ़े
कुत्ते जो लपक, लिया लोगों ने झपट थाम ॥२८॥

परिशिष्ट

श्रीधर पाठक

एकांतवासी योगी

पं० श्रीधर पाठक को आरंभ से ही संस्कृत की शिक्षा दी गई जिसे उनकी कुशाग्र बुद्धि ने बहुत शीघ्र ग्रहण कर लिया। किंतु कई कारणों से पढ़ाई अधिक न हो सकी। बचपन से ही उन्हें चित्रकला, मूर्तिकला एवं प्रकृति-सौंदर्य से विशेष प्रेम था। संवत् १९३७ में उन्होंने इंट्रेंस की परीक्षा पास की और छः महीने के अनंतर कलकत्ते जाकर सरकारी नौकरी कर ली। सरकारी नौकरी के सिलसिले में उन्हें बारंबार शिमला, नैनीताल आदि पार्वत्य प्रदेशों का पर्यटन करना पड़ा। स्वभावतः उनका प्रकृति-प्रेम दिन प्रतिदिन दृढ़तर होता गया। उनकी 'कश्मीर-सुषमा' नामक रचना उनके प्राकृतिक दृश्यों के सूक्ष्म निरीक्षण का परिणाम और प्रमाण दोनों है। उन दिनों साहित्य-क्षेत्र में परिवर्तन की लहरें उठ रही थीं। हिंदी के गद्य-साहित्य का निर्माण तीव्र वेग से हो रहा था। साहित्य की दोनों प्रणालियों—गद्य और पद्य—में एक ही भाषा व्यवहृत करने का आंदोलन उठ खड़ा हुआ। गद्य में तो खड़ी बोली का व्यवहार बहुत पहले से हो रहा था किंतु पद्य में उसका प्रयोग तब तक सर्वमान्य नहीं हो पाया था; इसी बात का झगड़ा था। पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने इस आंदोलन का झंडा ऊँचा किया। पाठकजी भी द्विवेदीजी के पक्ष को पसंद करते थे। पर खड़ी बोली का आंदोलन व्रजभाषा के विरोध में वे नहीं चाहते थे। इसीलिए उन्होंने 'व्रज' और 'खड़ी' दोनों में रचना की।

पाठकजी की यह विशेषता थी कि लिखें चाहे 'व्रज' में चाहे 'खड़ी' में, रमणीयता और सजीवता एक-सी रहती थी। प्राकृतिक दृश्यों का यथातथ्य चित्र उतारने में वे अद्वितीय थे। जहाँ तक भाषा के रूप का संबंध था, वे काव्य

की सरसता पर विशेष दृष्टि रखते थे। उन्हें दूसरों की भाँति इसका परहेज नहीं था कि ब्रजभाषा में अमुक शब्द का व्यवहार न हो या खड़ी बोली में अमुक पद न लिया जाय। वे ब्रज के शब्द 'खड़ी' की रचना में निःसंकोच रख देते थे। उस समय तक खड़ी बोली पद्य में इतनी मँजी ही कहाँ थी कि ब्रजभाषा का मुकाबला कर सकती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा की सरलता और मृदुलता का हेतु बोलचाल की पदावली का बेखटके प्रयोग भी था। उनकी दृष्टि रहती तो थी अभिव्यंजना ही पर, किंतु शुद्ध शाब्दिक वक्रता का प्रदर्शन कर उलझन उत्पन्न करने की अभिरुचि उनमें न थी। 'एकांतवासी योगी' के आरंभ में ही उनकी शब्दावली है—

वहाँ जो दीखे है तुझको यह उज्ज्वल अधिक प्रकाश,
झूठमूठ बहकाय करेगा निश्चय तेरा नाश।

पाठकजी की ख्याति के हेतु उनके सफल अनुवाद भी हैं। उन्होंने अँगरेजी के कवि गोल्डस्मिथ की तीन रचनाएँ 'डेजर्टेड विलेज', 'ए हरमिट' और 'ट्रैवेलर' क्रमशः 'ऊजड़ ग्राम', 'एकांतवासी योगी' और 'श्रांत पथिक' के नाम से अनूदित कीं। इन सभी अनुवादों की विशेषता यह है कि भाषांतरित होने पर भी कथा के प्रवाह में कहीं अवरोध नहीं है। भाषा का गठन और सुप्रयुक्त पर्याय का चयन विशेष चित्ताकर्षक है। इन अनुवादों में, विशेषतः 'एकांतवासी योगी' में, भारतीयता का पुट दे देने से मूल का विदेशी रंग छिप गया है। अनजान पाठक इन्हें मौलिक ही समझता है। 'एकांतवासी योगी' के योगी का अतिथि-सत्कार शुद्ध भारतीय रूप का है।

'एकांतवासी योगी' पद्य में लिखी एक प्रेम-कहानी है, जिसका नायक एडविन है। इसमें प्रेम की एकनिष्ठता का आदर्श चित्रित किया गया है। एडविन अपनी प्रमिका अंजलैना को हृदय से चाहता है किंतु अपना प्रेम कभी व्यक्त नहीं होने देता। वह प्रेमिका के व्यवहार से ही उसे परख लेता है। प्रेम में असफल होने पर वह दूसरों की भाँति पागल नहीं हो जाता। उसे संसार से विरक्ति अवश्य हो जाती है। किंतु जंगल में भी वह अपने मानव-स्वभाव का परित्याग नहीं करता। पशु-हिंसा उसे पसंद नहीं। उसका प्रेम

ईश्वर-प्रेम में लीन दिखाई देता है। उसका द्वार सबके लिए सदैव खुला रहता था। एडविन को आदर्श प्रेमी कहा जा सकता है। उसका प्रगाढ़ प्रेम ही उसे कर्तव्य-विमुख नहीं करता।

हिंदी में प्रेम-प्रबंध अधिकतर ऐतिहासिक या पौराणिक इतिवृत्त लेकर लिखे जाते थे। कल्पित कथाएँ लेकर या विदेशी कथाएँ लेकर प्रेम-प्रबंध लिखने की चाल नहीं थी। उपन्यास के ढंग के प्रबंध कल्पित कथा लेकर गद्य में अवश्य लिखे जाते थे। 'कादंबरी' में कल्पित कथा भी है और गद्य का भी उसमें प्रयोग हुआ है। वर्तमान युग में स्वच्छंद प्रेम का प्रवाह बहने पर हिंदी में भी स्वच्छंदता की लहर आई, हिंदी में जिसके प्रवर्तक पाठकजी ही हैं। प्रस्तुत प्रेम-प्रबंध में मनोवैज्ञानिक चित्रण के साथ ही साथ कुतूहल जगानेवाली वृत्ति का भी सन्निवेश घटना-चक्र के अंतर्गत है। इसलिए कथा विशेष रोचक और आकर्षक भी हो गई है।

उन दिनों कविता में ऐसे पद्य-निबंध लिखने की नई चाल चली थी। रीतिकालीन शृंगारधारा आदर्शवाद के प्रवाह में विलीन हो गई थी। रसानुभूति की भाव-भंगिमा का स्थान विचार-विदग्धता ने ले लिया था। पाठकजी ने 'जगत-सचाई-सार' लिखकर बताया कि संसार को असत्य कहना ठीक नहीं, इससे विरक्त होना अज्ञान है। पद्य-निबंधों का चलन हो जाने से साहित्य में विषयों की विविधता बढ़ने लगी। देश और समाज की ओर लोगों की विशेष दृष्टि रहने लगी जिससे तद्विषयक रचनाओं की प्रचुरता हुई। पाठकजी का 'मनोविनोद' नामक कविताओं का संग्रह इसका अच्छा उदाहरण है। 'भारत-गीत' में देश-प्रेम का जो वर्ण्य विषय गृहीत है वह व्रजभाषा के वर्ण्य विषयों से पार्थक्य की घोषणा करता है।

आदर्शवाद की ओर उन्मुख होने के कारण उस समय प्रेम-प्रबंध पूर्ण मर्यादित होते थे। अनुवादों तक में इसका ध्यान बराबर रखा जाता था। इसीसे पाठकजी का 'एकांतवासी योगी' विलायती नहीं जान पड़ता।

अपने अंतिम दिनों में पाठकजी दमे से पीड़ित रहा करते थे। संवत् १९८५ में इसी रोग से आपका देहावसान हुआ। प्रकृति के अन्यतम पुजारी, साहित्य में

नूतनता और स्वच्छंदता का मर्यादित रूप में समावेश करनेवाले और भाषा की मधुर धारा बहानेवाले पाठकजी हिंदी में अपने रंग-ढंग के एक ही व्यक्ति थे। हिंदी साहित्य सम्मेलन ने उनको लखनऊ अधिवेशन का सभापति बनाकर अपना गौरव बढ़ाया।

अध्ययन के सहायक प्रश्न

१—एडविन और अंजलैना के चरित्रों की विशेषताएँ बताइए।

२—'एकांतवासी योगी' की कथा में आदर्श व्यक्ति के जिन गुणों का समावेश है उनका निर्देश कीजिए।

३—'एकांतवासी योगी' की वर्णन-शैली का विश्लेषण कीजिए।

४—'एकांतवासी योगी' में प्रधान रूप से जिन अलंकारों का व्यवहार हुआ है उनकी रमणीयता समझाइए।

५—'एकांतवासी योगी' में प्रयुक्त छंदों की उपयुक्तता और स्वारस्य का विचार कीजिए।

६—'एकांतवासी योगी' में आए ऐसे प्रयोगों को एकत्र कीजिए जिनका ग्रहण प्रचलित साहित्यिक भाषा में नहीं होता।

७—छंदानुरोध के कारण प्रयुक्त विकृत शब्द-रूपों का संकलन कीजिए।

महावीरप्रसाद द्विवेदी

कुमार-संभव-सार

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी हिंदी के उन उन्नायकों में हैं जिन्हें खड़ी बोली का वर्तमान रूप स्थिर करने का श्रेय है। उनका महत्त्व साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में इतना नहीं है जितना खड़ी बोली के प्रचार और रूप-निर्धारण में। उनका जन्म रायबरेली जिले में दौलतपुर नामक गाँव में हुआ था और साधारण शिक्षा प्राप्त करने के बाद वे तार-विभाग में बाबू हो गए थे। नौकरी के संबंध में वे बहुत दिनों झाँसी में रहे और अंत में कानपुर रहने लगे। अपने अंतिम काल में वे अपने गाँव में रहने लगे थे। आरंभ ही से उन्हें साहित्य से प्रेम था

और वे उस युग में उत्पन्न हुए थे जब हिंदी की उन्नति करने की प्रेरणा से लोग व्यवसाय और नौकरी करते हुए भी साहित्य-सेवा किया करते थे। साहित्यिक अभिरुचि और हिंदी-सेवा की लगन के कारण वे कुछ न कुछ लिखते रहते थे। सन् १९०१ में 'सरस्वती' का प्रकाशन प्रयाग के इंडियन प्रेस से हुआ और आरंभ में उसका संपादन नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी द्वारा नियुक्त एक संपादक-मंडल किया करता था जिसमें बाबू श्यामसुंदरदास और पंडित किशोरीलाल गोस्वामी मुख्य थे। यह क्रम तीन साल तक चला। 'सरस्वती' इतनी लोकप्रिय हुई और उसका काम इतना बढ़ गया कि उसको एक संपादक के हाथ में दे देने की आवश्यकता पड़ी। सौभाग्य से इंडियन प्रेस के अधिकारियों ने द्विवेदीजी को चुना। उनके हाथों में आकर 'सरस्वती' ने और भी अधिक उन्नति की। उन्होंने खड़ी बोली के गद्य और पद्य दोनों को प्रोत्साहन दिया और अपनी समालोचनाओं से भाषा के रूप का निर्णय करने, उसका प्रचार करने और साहित्य-निर्माण की दिशा निर्धारित करने में हिंदी संसार की बड़ी सेवा की। उनकी समालोचनाएँ सदैव मीठी ही न होती थीं। उनकी कलम में तेज चाकू की धार थी और गहरा नश्तर लगाने में वे कभी हिचकिचाते भी न थे। दूसरी ओर अपने शिष्यों को प्रोत्साहित करने में वे बड़े कुशल और उदार थे। इन कारणों से उनके शत्रुओं और मित्रों—दोनों ही—की संख्या अधिक थी। किंतु कोई भी उनके प्रभाव से इनकार नहीं कर सकता था। उन्होंने 'सरस्वती' का संपादन जिस योग्यता से किया वह स्तुत्य है और अभी तक हिंदी-संपादकों के लिए आदर्श बना हुआ है। वे बड़े निर्भीक लेखक थे। उनके गद्य की भाषा प्रायः कठिन होती थी और उसमें तत्सम शब्दों की भरमार रहती थी। किंतु कभी कभी वे उर्दू-शब्दों का भी उपयोग कर लेते थे। उन्होंने सैकड़ों निबंध लिखे और कई एक पुस्तकों का अँगरेजी से अनुवाद किया जिनमें अँगरेज लेखक मिल की 'लिबर्टी' और हर्बर्ट स्पेंसर की एक पुस्तक के अनुवाद मुख्य हैं। उन्हें कविता से भी प्रेम था। आरंभ में उन्होंने व्रजभाषा में कविताएँ लिखीं, किंतु बाद में उन्होंने खड़ी बोली को अपनाया। उनकी मौलिक कविताओं का संग्रह 'काव्य मंजूषा' के नाम से छपा था। बाद में इंडियन प्रेस ने उनकी अनूदित

और मौलिक कविताओं का संग्रह अलग निकाला। कविता में भी वे कभी कभी तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग कर बैठते थे। उनकी 'हे कविते !' शीर्षक कविता का आरंभ इस छंद से होता है—

सुरम्यरूपे ! रस-राशिरंजिते !
विचित्रवर्णाभरणे ! कहाँ गई ?
अलौकिकानन्द - विधायिनी महा
कवीन्द्रकान्ते ! कविते ! अहो ! कहाँ ?

उत्तरकालीन कविताओं की भाषा इतनी दुरूह नहीं है। उन्होंने संस्कृत से बहुत से अनुवाद किए। 'कुमारसंभव-सार' नाम से उन्होंने कालिदास के 'कुमारसंभव' काव्य के कुछ अंशों का अनुवाद किया। उसमें से एक सर्ग का अनुवाद इस संग्रह में दिया गया है।

इस अनुवाद की भाषा संधिकाल की खड़ी बोली है। उसमें जगह जगह ऐसे प्रयोग आ गए हैं जो व्रजभाषा में चलते थे किंतु आज की खड़ी बोली में अग्राह्य हैं। जैसे,

'एक बार आली के मुख से सैलसुता ने यों भाखा।"
"वहीं बिछौने बिन वेदी पर तकिया अपनी बाँह बनाय,
सोई और वहीं बैठी भी तप-साधन में ध्यान लगाय ॥" इत्यादि।

इस विषय में इसकी शैली श्रीधर पाठक के 'एकांतवासी योगी' से मिलती है। इन दोनों कविताओं का भाषा की दृष्टि से यही महत्त्व है कि ये संधिकाल की कविताएँ हैं और इनके लेखक—जो पहले व्रजभाषा में लिखते थे—खड़ी बोली लिखना आरंभ करने पर व्रजभाषा के प्रभाव को सहसा हटा न सके। द्विवेदीजी की इस कविता में कहीं कहीं अवधी का भी पुट आ गया है। उपर्युक्त उदाहरणों में 'भाषा' अवधी है। किंतु इन पुटों के कारण भाषा में कुछ माधुर्य ही आया है।

इस सर्ग में उमा की तपस्या के सफल होने का प्रसंग वर्णित है। कालिदास ने इसे यथेष्ट रूप से नाटकीय बना दिया है। पार्वती के मनोभावों का केवल सूक्ष्म निरूपण ही नहीं, प्रत्युत उनका हृदयग्राही वर्णन भी है। वार्तालाप के समय पार्वती के मनोभावों का उतार-चढ़ाव बड़े कौशल से दिखलाया गया है।

वार्तालाप मनोरंजक ही नहीं प्रत्युत स्वाभाविक भी है। वार्तालाप के बीच में जो उपमाएँ दी गई हैं वे अत्यंत स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी हैं। यथा—

अति मृदु सिरस-फूल मधुकर का हलका यह सह सकता है,
पक्षी का पद सह सकने की शक्ति वह नहीं रखता है।

बात करने का ढंग स्पष्ट और मार्मिक है। तपस्या की लंबी अवधि और उसकी सफलतागत हीनता के संबंध में पार्वती की सखी कहती है—

तप के साथी तरुवर इसने जितने यहाँ लगाये हैं,
उन सबमें इस समय देखिये फूल और फल आये हैं।
किंतु चंद्रशेखर-संबंधी इसकी अभिलाषा सुखकर
अंकुरयुत भी नहीं हुई है, सच कहती हूँ हे द्विजवर !

पार्वती ने जब तपस्या आरंभ की, तब उसने वन में कितने ही पौदे और पेड़ लगाए। उनको लगे इतने दिन हो गए हैं कि उनमें केवल फूल ही नहीं प्रत्युत फल भी लग गए हैं, किंतु उनके रोपने के साथ ही जो उसने तपस्या आरंभ की थी उसका फलवती होना तो दूर रहा, उसमें अभी अंकुर भी नहीं फूटे ! पार्वती की निराशा को कितने कलापूर्ण और हृदयग्राही ढंग से कहा गया है !

अध्ययन के सहायक प्रश्न

१—इस कथा में शिव और पार्वती के जो नाम दिए गए हैं उनकी सूची बनाइए और उनके अर्थ लिखिए। यदि अर्थ के साथ किसी घटना का संबंध है तो उसका भी उल्लेख करिए।

२—द्विज ने शिव में वर के योग्य किन किन त्रुटियों का वर्णन किया और पार्वती ने उनका किस प्रकार समाधान किया।

३—इस कथा से तत्कालीन अतिथि के आदर करने के ढंग का वर्णन कीजिए।

४—पार्वती की तपस्या का वर्णन करिए।

५—पार्वती की सखी ने द्विज से पार्वती की तपस्या का जो वर्णन किया उसका संक्षिप्त वर्णन लिखिए।

६—इस कथा में आई हुई उपमाओं का संग्रह कीजिए।

७—इस कथा में आए हुए आदर्श वाक्यों का संग्रह करिए।

८—पद्यसंख्या ४६, ५८ और ८० में पार्वती के शब्द-चित्र दिए हैं। उन चित्रों का मनोवैज्ञानिक कार्य से विश्लेषण करके कवि के वर्णन को सार्थक प्रमाणित कीजिए।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

प्रियप्रवास

पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म संवत् १९१२ वैशाख कृष्ण तृतीया को आजमगढ़ जिले के निजामाबाद नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता का नाम पं० भोलासिंह उपाध्याय था। ये सनाढ्य ब्राह्मण होते हुए सिख मतानुयायी हैं। संवत् १९४४ में नार्मल परीक्षा पास कर ये अध्ययन और अध्यापन दोनों में लग गए। किंतु कुछ दिनों बाद इन्होंने अध्यापन छोड़ दिया और कानूनगो हो गए। धीरे धीरे उन्नति करके ये कानूनगो से सदर कानूनगो हो गए। बाद में वृद्धावस्था के कारण १ नवंबर सन् १९२३ में इन्होंने अपने पद से अवकाश ग्रहण कर लिया और काशी हिंदू विश्वविद्यालय में अवैतनिक रूप से हिंदी पढ़ाने लगे। अब इन्होंने वहाँ से भी अवकाश ग्रहण कर लिया है और आजमगढ़ में अपने घर पर ही रहते हैं।

अपने आरंभिक समय में खड़ी बोली को हरिऔधजी ऐसे एक सर्वतोमुखी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति का सहारा मिला जिसने अपनी रचनाओं से साहित्य की प्रायः सभी शाखाओं को हरी भरी कर दिया। इन्होंने खड़ी बोली में 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' रचकर एक ओर उर्दू की बहरों और गजलों में सुंदर से सुंदर मुहावरेदार रचना प्रस्तुत की और हिंदी में उसकी-सी मिठास और चमत्कार उत्पन्न कर दिया तथा दूसरी ओर प्राचीन भारतीय काव्यधारा से होड़ लेनेवाली संस्कृत के माधुर्य से पूर्ण वर्णवृत्तों में 'प्रियप्रवास' की सर्वोत्कृष्ट उद्भावना की। 'चोखे चौपदे' और 'चुभते चौपदे' में मुहावरों का चमत्कार उर्दू से भी बढ़कर है। इनके एक एक चरण में मुहावरा है। इसमें शुद्ध हिंदी की मिठास है,

हृदयस्पर्शी सरसता है जो इनके नामों से ही प्रकट है। 'प्रियप्रवास' लिखकर हरिऔधजी ने हिंदी कविता में वह सौंदर्य दिखाया जो संस्कृत के चोटी के ग्रंथों में ही मिलता है। इन्होंने इस ग्रंथ में शब्द, छंद, भावाभिव्यंजन आदि की संस्कृत की सारी सामग्री लेकर हिंदी में ऐसी रचना प्रस्तुत की जिसके जोड़ की कृति हिंदी में क्वचित् ही दिखाई देती है।

संस्कृत में भावाभिव्यंजना के लिए समास और विशेषण का बहुत महत्त्व है। इनके द्वारा कोई भी बात बहुत थोड़े में और चित्ताकर्षक ढंग से कही जा सकती है। संस्कृत का एक एक विशेषण भावपूर्ण और एक एक समास एक एक वाक्य की शक्ति रखता है। वर्णन में इनका प्रयोग गुणकथन के लिए विशेष उपयोगी होता है। 'प्रियप्रवास' में इस प्रकार की समास और विशेषण-विशिष्ट शैली का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ है। जैसे—

सरस-राग - समूह सहेलिका।
सहचरी मनमोहन - मंत्र की।
रसिकता-जननी कल - नादिनी।
मुरलि थी कर में मधुवर्षिणी॥

हरिऔधजी के इस काव्य में जिस प्रकार संस्कृत की वर्णनप्रणाली की सरसता दिखाई देती है वैसे ही संस्कृत के प्राचीन कवियों का-सा सूक्ष्म निरीक्षण भी। सायंकाल के वर्णन में हरिऔधजी ने जिस क्रम से सूर्य के प्रकाश का जाना और अंधकार का आना दिखाया है उससे उनके निरीक्षण की सूक्ष्मता का पता सहज ही लग सकता है। कृष्ण के वन से लौटने का जैसा सुंदर चित्रण हरिऔधजी की लेखनी इस विरह-काव्य के आरंभ में कर सकी है उसे देखकर कोई भी यह अनुमान कर सकता है कि 'प्रियप्रवास' किस उच्च भूमि पर खड़ा है। इस वर्णन में मनुष्य और प्रकृति के समन्वय का अद्भुत और सफल प्रयास किया गया है। प्रकृति के व्यापारों का कारण मनुष्य के कार्यों को बताने में बहुत ही रमणीय कल्पना का सहारा हरिऔधजी ने लिया है। उदाहरण के लिए एक प्रसंग देखिए। अंधकार हो जाने के कारण दूर पर स्थित कृष्ण अब दिखाई नहीं देते। आकाश में तारे निकल रहे हैं और कमल बंद हो रहे हैं—

यह अभावुकता तम पुंज की ,
सह सकी न नभस्तल-तारका ।
वह विकाश-विवर्धन के लिये ,
निकलने नभमंडल में लगी ॥
तदपि दर्शक - लोचन - लालसा ,
फलवती न हुई तिलमात्र भी ।
यह विलोक विलोचन-दीनता ,
सकुचने सरसीरुह भी लगे ॥

तारों के निकलने और कमल के सकुचने की सूचना इस ढंग से दी गई है कि वर्णन कथा-प्रवाह का ही एक अंग हो गया है, उसी में घुलमिल गया है। इससे काव्य में प्रकृति-वर्णन की प्रसगोद्भावना की रमणीयता भली भाँति समझी जा सकती है। प्रकृति-वर्णन कभी कभी जहाँ अलग से जान पड़ते हैं वहाँ उतने प्रभावोत्पादक नहीं बन पाते जितने प्रसंगानुकूल होने पर होते हैं। गोपाल कृष्ण को वन से घर तक पहुँचने में संध्या से रात हो जाती है इसका वर्णन हरिऔधजी ने इस ढंग से किया है कि प्रकृति-चित्रण और कृष्ण के लौटने का वर्णन दोनों मिलकर कथा का विकास करते दिखाई देते हैं।

जहाँ तक उपमानों का संबंध है हरिऔधजी ने उन्हीं उपमानों को अपनाया है जो काव्य-परंपरा में प्रसिद्ध हैं। किंतु इन्होंने इनका प्रयोग बहुत ही भावुकता-पूर्ण ढंग से किया है। भाव-चित्रण में उपमाओं की सफल योजना कर इन्होंने काव्य में अपूर्व माधुर्य उत्पन्न कर दिया है—

मुदित गोकुल की जन - मंडली ,
जब ब्रजाधिप संमुख जा पड़ी ।
निरखने मुख की छवि यों लगी ,
तृषित चातक ज्यों घन की घटा ॥

हरिऔधजी के काव्य में इस बात की नवीनता है कि इन्होंने भाववाचक संज्ञाओं के सहारे ही अधिकतर व्यंजना करने का प्रयास किया है। सुकुमारता, कमनीयता, अरुणता आदि संज्ञाओं का कर्ताकारक के रूप में बहुत व्यवहार

हुआ है जिससे सभी उक्तियाँ पुरानी होती हुई भी नवीन आवरण और सजधज के साथ सामने आती हैं।

समष्टि में हरिऔधजी 'प्रियप्रवास' में भारतीय भावव्यंजना का प्राचीन रूप लेकर अवतरित हुए। इन्होंने अपनी प्रतिभा से प्राचीन पद्धति का परिमार्जन किया और हिंदी में फिर से उसे चमकाकर प्रस्तुत किया। पर संस्कृत काव्य की यह पियूषधारा इनके परवर्ती कवियों ने प्रवाहित करने का प्रयत्न बहुत कम किया।

इनका दूसरा प्रबंध-काव्य 'वैदेही-वनवास' आधुनिक व्यंजना-प्रणाली का सहारा लेकर प्रस्तुत हुआ। यह भी विरह-काव्य ही है। 'रस-कलस' इनका ब्रजभाषा का रस-संबंधी रीतिग्रंथ है जिसमें इन्होंने नायिकाओं के कुछ नवीन भेदों की उद्भावना की है। यह इनकी आरंभिक रचना मानी जाती है। गद्य में 'वेनिस का बाँका' और 'ठेठ हिंदी का ठाठ' लिखकर इन्होंने बोलचाल की ठेठ हिंदी में भी अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन का प्रयास किया है।

अध्ययन के सहायक प्रश्न

१—हरिऔधजी की भाषा-शैली की विवेचना कीजिए।

२—गोप-मंडली के बीच कृष्ण और बलराम का चित्रण पाठ्य-पुस्तक के आधार पर करिए।

३—पाठ्य-पुस्तक में दिए गए 'हरिऔध' जी के छंदों का नाम बताइए।

४—'हरिऔध' जी ने जिन जिन उपमाओं का प्रयोग किया है उनका संकलन कीजिए।

५—प्रकृति का वर्णन कितने प्रकारों से हो सकता है। उनमें से हरिऔधजी ने किस किस को ग्रहण किया है।

६—क्या हरिऔधजी की भाषा में इतने अधिक और अपरिचित संस्कृत शब्दों का व्यवहार हुआ है कि हिंदी केवल सर्वनामों और क्रियापदों में ही दिखाई देती है।

७—लालिमा, हरीतिमा, व्यापित, दिशि, सिंचित, प्रफुल्लित, वेलि के शुद्ध संस्कृत रूप क्या होंगे।

मैथिलीशरण गुप्त

बाबू मैथिलीशरण गुप्त का जन्म संवत् १९४३ श्रावण शुक्ल तीज को चिरगाँव (झाँसी) में हुआ। इनके पिता सेठ रामचरण जी परम भागवत थे। उदार वैष्णव भक्ति का प्रभाव इन पर भी पूर्ण है। इन्होंने 'साकेत' में राम की, 'द्वापर' में कृष्ण की तथा 'अनघ' में बुद्ध की कथा कही है। 'का बा और करबला' में मुसलमानों के रसूल मुहम्मद साहब का वृत्त है। महात्मा ईसा के संबंध में भी एक काव्य प्रस्तुत करनेवाले हैं और शीघ्र ही। गुप्तजी की दृष्टि वर्तमान की ओर अधिक है। ये आज के संसार के गुणों और विषयों को छोड़ना भी नहीं चाहते और साथ ही अपनी प्राचीनता से भी पूरा राग रखते हैं। देश की दयनीय दशा देखकर इन्होंने 'भारत-भारती' नाम की ऐसी रचना प्रस्तुत की कि इनका नाम गाँव-गाँव घर-घर फैल गया। इसमें पराधीनता के कारण चारों ओर व्याप्त हाहाकार का बहुत मर्मस्पर्शी तथा तर्कपुष्ट वर्णन किया गया है! यह कहना अत्युक्ति नहीं कि भारतीय राष्ट्रीय चेतना के जनता में प्रचलित होने में इस ग्रंथ का भी हाथ रहा है। राष्ट्रीय चेतना इनमें इतनी अधिक व्याप्त है कि इन्होंने अन्य जाति के महापुरुषों का निरूपण भी उससे ओत-प्रोत करके किया है। इन्होंने प्राचीन रूढ़ियों का आधुनिक तर्कों से समर्थन किया है जो निस्संदेह गौरव की वस्तु है। उदाहरण के लिए 'द्वापर' के 'नारद' को ही लें। नारद के विषय में लोक में यह धारणा बद्धमूल है कि वे झगड़ा लगानेवाले हैं। किंतु मैथिलीशरणजी ने उनके देवर्षित्व का बहुत ही बुद्धि-संगत प्रतिपादन किया है। उनमें 'लोक-मंगल' और 'लोक-रंजन' दोनों प्रकार की वृत्तियों का मेल दिखलाकर पौराणिक परंपरा का पूर्णतया पालन किया है। उनकी उच्चता भलीभाँति सिद्ध कर दी है अर्थात् उनका झगड़ा लगाना भी लोकोपकार के लिए ही होता है। 'द्वापर' में ही इन्होंने यशोदा के पुत्रवत्सल मातृ-हृदय का बहुत प्राकृतिक चित्रण किया है। कृष्ण के प्रति यशोदा की ऐसी ममता है कि उनका धृष्टतापूर्ण नटखटपन भी यशोदा को रिझाता है। कृष्ण जब तक सामने नहीं आते उनकी शरारतों के कारण यशोदा अत्यधिक क्रुद्ध रहती हैं। किंतु वे जहाँ सामने आए नहीं

कि ऐसी युक्ति निकालते हैं जिससे यशोदा का सारा क्रोध हवा हो जाता है। एक बार कृष्ण कालीदह में कूदे। उस पर जब उन्हें डाँट पड़ी तब उन्होंने चट से बात बनाकर कहा कि तुम्हीं ने तो कहा था कि अब मैं छींके पर मक्खन की जगह भिडों से भरा हुआ मठोला रख दूँगी, जिससे यदि तुम चुराने जाओगे तो वे सब तुम्हें काट खायँगी। उन्हीं से बचने के लिए मैं कालीदह में जा कूदा। बेचारी यशोदा की अपनी उँगली अपनी ही आँख में गई। उनका सारा क्रोध ठंडा पड़ गया। गुप्तजी ने यशोदा के मुख से ही कृष्ण संबंधिनी उनकी धारणा का बहुत ही रोचक वर्णन किया है। उनके कथन में माता की सच्ची ममता है और आधुनिक विचारधारा का सामंजस्य है। मनोविज्ञान की दृष्टि से इनके प्रकृति-चित्रण बहुत ही खरे उतरते हैं। गुप्तजी सब प्रकार की रचना करने में पटु हैं।

इन्होंने प्रबंधकाव्य भी रचे और मुक्तक भी। ये पुराने कवियों की भाँति दृश्य जगत् को भी आधार बनाकर चलते हैं और नवीन छायावादी कवियों की भाँति इस लोक से परे किसी अदृश्य सत्ता की खोज में भी कभी कभी लग जाते हैं। प्रस्तुत संग्रह में संकलित गुप्तजी के गीतों में प्रायः विचारों की ही प्रधानता है। कहीं रहँट की अन्योक्ति से कालचक्र का चित्रण किया गया है, कहीं वृष्टि होने से किसी किसान की प्रसन्नता का वर्णन है, कहीं विश्व-बंधुता की अभि-व्यक्ति है और कहीं लोक-कल्याण या परोपकार का महत्त्व समझाया गया है और कहीं जीवन-मरण का ही रूप अंकित किया गया है।

बाबू मैथिलीशरणजी गुप्त द्विवेदी-मंडल के कवि हैं। स्वर्गीय पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने जिन दिनों 'सरस्वती' के संपादन की बागडोर सँभाली, उन्हीं दिनों गुप्तजी ने भी साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। द्विवेदीजी ने अपने आचार्यत्व के बल से लेखकों का अपना एक मंडल ही तैयार कर लिया था जो हिंदी की साहित्य-निधि को समृद्ध करके उसे ऊँचे उठाने में बहुत सहायक हुआ। गुप्तजी प्रवाह कवि हैं।

हमारे वर्तमान जीवन के लिए जब जिस प्रकार की साहित्यिक सामग्री की अपेक्षा हुई आपने तब उसी प्रकार की रचना करके साहित्य और जीवन का समन्वय बनाए रखा। छायावादी कविता का प्रवर्तन होने के पूर्व ही गुप्तजी उस प्रकार की रचनाओं का आभास अपनी तत्कालीन कृतियों में दे चुके थे।

राष्ट्रकवियों के सिरमौर तो ये हैं ही, हिंदी के वर्तमान कवियों में इनसे अधिक परिमाण में रचनाएँ प्रस्तुत करनेवाला कदाचित् ही कोई हो। इनकी रचना-शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये शब्दों के चुनाव पर बहुत ही पैनी दृष्टि रखते हैं। इनका प्रयास सदा यही रहता है कि किसी शब्द के जितने भी अर्थ हो सकते हैं या होते हैं सबका अधिक से अधिक समावेश एक साथ ही हो जाय। जैसे 'तत्त्वतल से ही निकलता' में 'तत्त्व' शब्द के अर्थ 'जल' और 'सार' दोनों हैं। इन में भाव-व्यंजना के साथ साथ वस्तु-व्यंजना का प्राधान्य है। वचन-विदग्धता भी इन में परिपूर्ण है। संवादों की रचना में इसका विकास बहुत ही प्रकृत ढंग से हुआ है। अप्रत्याशित और रोचक उत्तरों की सजीव कल्पना बहुत महत्त्वशाली होती है जो 'यशोदा' में श्रीकृष्ण-लीला के प्रकरण में भलीभाँति प्रदर्शित है। बोलचाल की उक्तियाँ ये कभी कभी बड़े चमत्कारपूर्ण ढंग से रखते हैं। जैसे—

जीने का फल पा जाती हूँ प्रतिदिन उसे खिला के।
मरना तो पा गई पूतना, उसको दूध पिला के॥

मुहावरेबंदिश का जैसा सौंदर्य उर्दूवाले लाते हैं गुप्तजी अपनी पद्धति पर उससे कम रमणीयता नहीं लाते।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न—

१—यशोदाजी की प्रकृति का चित्रण कीजिए।

२—जिस नाटकीय ढंग से यशोदा की उक्तियाँ कहलाई गई हैं उसका काव्य में क्या महत्त्व है।

३—यशोदा के कथन से कृष्ण की अवतार रूप में धारणा होती है या नहीं?

४—गुप्तजी के गीतों के वर्ण्य विषयों का विश्लेषण करके उनका स्वरूप बतलाइए।

जयशंकर 'प्रसाद'

हिन्दी में लाक्षणिक वक्रता और चित्रोपम भाषा का विधान करनेवाले बाबू जयशंकर 'प्रसाद' जी का जन्म माघ शुक्ल १० संवत् १९४६ को काशी में

श्री देवीप्रसाद सुँघनीसाव के यहाँ हुआ था। जन्म से ही वे विद्याव्यसनी थे। १५ वर्ष की अवस्था में वे अच्छी तरह कविता कर लेने लगे थे। आरंभ में वे व्रजभाषा में भी रचना करते थे किंतु बाद में उनका झुकाव खड़ी बोली की ओर हो गया और वे उसीमें लिखने लगे। उनके भांजे बाबू अंबिकाप्रसाद गुप्त ने जब 'इन्दु' नामक मासिक पत्र निकाला तो उनकी खड़ी बोली की रचनाएँ उसमें प्रकाशित होने लगीं। थोड़े ही दिनों में उन्होंने पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर ली। कुछ समय के उपरांत जब 'झरना' प्रकाशित हुआ तब उनके नए रूप का सबको पता चला। 'आँसू' का प्रकाशन होने के अनंतर वे छायावादी कवि के रूप में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गए। विप्रलंभ शृंगार का यह अनोखा काव्य लक्षणा और व्यंजना का क्रीड़ा-कानन है। इसमें व्यक्तिगत विरह लोक भर में व्याप्त दिखाया गया है तथा व्यक्तिबद्ध प्रणय लोक-प्रेम में परिणत होता हुआ प्रदर्शित किया गया है। यह प्रेम लोक की सीमा भी पार करता है और अलौकिक प्रेम का रूप धारण कर लेता है। 'लहर' नामक गीत संग्रह में उनके प्रगीतों का संकलन है जिसमें नवीन पद्धति के गीत तो हैं ही कुछ कथात्मक और मुक्त छंद में रचित गीत भी हैं।

उनकी सर्वोत्कृष्ट रचना प्रबंधबद्ध 'कामायनी' है। एक तो हिंदी में प्रबंध-काव्य यों ही कम हैं दूसरे आजकल की व्यंजना-शैली व्यक्ति-प्रधान और अंतर्मुखी हो गई है, अतः उसकी ओर से बहुतों की रुचि ही हट गई है नवीन शैली में प्रबंध-काव्य के लिए भी भूमि निकालकर 'प्रसाद'जी ने अपनी महती काव्य-शक्ति का परिचय दिया है। 'कामायनी' में मानव-सृष्टि के आरंभ की कथा कही गई है। महाप्रलय के बाद देव-सृष्टि के एकमात्र अवशिष्ट प्राणी मनु की प्रलय-जलधि में पड़ी नौका एक महामत्स्य की टक्कर से हिमालय के शिखर पर जा लगी। वहाँ पहुँचकर आनेवाली नूतन सृष्टि के लिए वे जीवित बच गए। प्रलय का पानी उतर जाने पर अपने एकाकीपन से वे चिंतित हुए, फिर भी बलि का अन्न नित्यप्रति इस विचार से निकालते रहे कि यदि मेरे अतिरिक्त और भी कोई प्राणी बचा हो तो यह उसे मिल जाय। दैव योग से उसी समय काम की पुत्री 'कामायनी' जिसे 'श्रद्धा' भी कहते थे, गंधर्व देश से ललित-कला सीखकर लौट रही थी।

बलि का अन्न देखकर उसे भी किसी व्यक्ति के वहाँ होने का आभास मिला। मनु से उसका साक्षात् हो गया। 'श्रद्धा' नामक सर्ग में 'प्रसाद' जी ने मनु और कामायनी के इसी मिलन का वर्णन किया है। विकल और चिंतित मनु को कामायनी समझा रही है। वह उन्हें कार्य में लगे रहने को प्रेरित कर रही है। पूरे काव्य में 'श्रद्धा' का प्रधान कार्य मनु को सत्कर्म में संलग्न करना ही है। जब जब मनु पथभ्रष्ट होने लगते हैं तब तब वह सामने आकर उन्हें सुपथ पर लगाती है। 'प्रसाद' जी ने जिस समरसता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है उसकी उपदेशिका कामायनी ही है। समरसता के सिद्धांत में समर्पण का बहुत महत्त्व है। मनुष्य को अपने जीवन का उत्सर्ग दूसरों के लिए कर देना चाहिए। उसे दुःख और सुख की चिंता करनी ही नहीं चाहिए, अपने कर्त्तव्य-पथ पर अटल रहना चाहिए। जब वह अपना जीवन ही उत्सर्ग कर चुका है तब उसके दुःख का भी कोई प्रश्न नहीं। सुख तो सुख ही है उसे दुःख में भी सुख मिलता है, प्रत्येक दशा में आनंद की ही प्राप्ति होती है।

'कला' के इस युग में 'प्रसाद'जी की अमर कलाकार के रूप में ख्याति है। कलावादी किसी रचना के विषय को प्रधानता नहीं देते। वे रचनाकार की उस कला को प्रधान बताते हैं जिससे वह रचना तैयार की जाती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि 'प्रसाद' जी में रचना की कला अपने पूर्ण विकसित रूप में थी। कला का चमत्कार चित्रण में ही देखा जाता है। 'प्रसाद' जी की एक एक पंक्ति उसका प्रमाण है। क्या उनका रूप-चित्रण, क्या उनका चरित्र-चित्रण, क्या उनका प्रकृति चित्रण, सब एक से एक बढ़कर हैं। काव्य में चित्रण दो तरह से होते हैं। एक तो ज्यों का त्यों, दूसरे उपमा आदि अलंकारों द्वारा। 'प्रसाद' जी के वर्णनों में दोनों ही पद्धतियाँ दिखलाई देती हैं। जहाँ वे उपमा आदि अलंकारों का सहारा लेते हैं वहाँ उनकी रमणीय कल्पना मूर्तिमती हो उठती है। 'प्रसाद' जी में नवीनता इस बात की है कि वे प्राचीन रूढ़िवादी कवियों की भाँति बँधे बँधाए उपमान लेकर चलनेवाले नहीं थे। इन्होंने पुराने और नवीन दोनों उपमानों का मिश्रण किया है और उत्प्रेक्षा के लिए नई नई स्थितियों की कल्पना की है जिसमें पुरानापन कहीं से भी नहीं झाँकता।

'श्रद्धा' में 'प्रसाद' जी ने श्रद्धा का जो नख-शिख वर्णन किया है वह मनन करने योग्य है। इस वर्णन में रीतिवादियों की भाँति गिनती नहीं गिनाई गई है। इन्होंने केवल उन अंगों का संश्लिष्ट चित्रण किया है जो विशेष रूप से वर्णन के लिए आवश्यक थे। इन्होंने जिन उत्प्रेक्षाओं और उपमाओं का सहारा लिया है उनमें काल-व्यत्यय नहीं है जैसा प्रायः उपमादि लादनेवाले कवियों की रचना में दिखाई देता है। उनके सारे उपमान शाश्वत और आदि-प्रकृति क्षेत्र से ही चुने गए हैं जो इस सृष्टि के आदिम प्राणियों के अनुरूप ही हैं। शरीर की उपमा कांचन से न देकर साल के वृक्ष से दी गई है जो हिमालय का प्राचीनतम वृक्ष है। शरीर की कांति की समानता लघु ज्वालामुखी की चमक से की गई है। मुख का सादृश्य अरुण रवि-मंडल में देखा गया है। ध्यान देने की बात है कि पुराने कवि किसी स्त्री के मुख की उपमा सूर्य से नहीं देते थे। किंतु प्रसादजी ने स्पष्ट लिखा है—

आह ! वह मुख ! पश्चिम के व्योम—
जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण रवि-मंडल उनको भेद
दिखाई देता तो छवि-धाम।

ऐसे ही मनःस्थिति का चित्रण भी 'प्रसाद' की अपनी विशेषता है। मनु को इस बात का पता न था कि मेरे समान ही अन्य कोई और भी जीवित है। किंतु जब उन्होंने किसी मनुष्य की वाणी सुनी तब उनके हृदय की क्या स्थिति हुई देखिए—

सुना यह मनु ने मधु-गुंजार
    मधुकरी का-सा जब सानंद,
किये मुख नीचा कमल समान
    प्रथम कवि का ज्यों सुंदर छंद;
एक झिटका-सा लगा सहर्ष
    निरखने लगे लुटे से, कौन। आदि।

जो लोग वाल्मीकि की तमसा तटवाली कथा जानते हैं वे इसका सहज ही

अनुभव कर सकते हैं कि कवि ने कितनी सटीक उपमा इस स्थिति के चित्रण के लिए खोज निकाली है। अमूर्त उपमानों की कल्पना आधुनिक कविता की विशेषता है; 'प्रसाद' जी की रचना में इन अमूर्तों की भी कल्पना बहुत व्यापक और मनोहर होती है। मनु के हृदय का चित्र खींचते हुए 'प्रसाद' जी कहते हैं—

क्या कहूँ, क्या कहूँ मैं उद्भ्रांत ?
विवर में नील गगन के आज
वायु की भटकी एक तरंग,
शून्यता का उजड़ा-सा राज।
एक विस्मृति का स्तूप अचेत
ज्योति का धुँधला-सा प्रतिबिम्ब
और जड़ता की जीवन राशि
सफलता का संकलित विलम्ब। आदि।

उपर्युक्त वर्णन में मनःस्थिति-चित्रण के लिए जितने उपमान आए हैं वे सब अपूर्व ही हैं किंतु वे जिसके लिए आए हैं उसका स्वरूप वे पूर्ण रूप से व्यक्त कर रहे हैं। ऐसे चित्रण की प्रवृत्ति अनेक आधुनिक कवियों में है किंतु 'प्रसाद' की सी रमणीयता किसी दूसरे के बाँटे नहीं पड़ी। 'प्रसाद' की यही कला उन्हें सबके ऊपर बिठाती है। चित्रमयी भाषा का इतना बड़ा प्रयोक्ता, छोटी सी कथा लेकर इतना बड़ा प्रबंध-काव्य प्रस्तुत करनेवाला आज के हिंदी-जगत् में दूसरा नहीं दिखलाई देता। 'प्रसाद' जी ने भारत के गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास की जितनी मनोहर अभिव्यक्ति अपने नाटकों में की है वैसी ही प्रत्युत उससे भी बढ़कर उन्होंने इस मानव-जाति के आदि पुरुषों की कथा में अपनी उक्त शक्ति का प्रमाण प्रस्तुत किया है। यह उनकी अंतिम कृति थी। संवत् १९९४ में प्रबोधनी को वे परलोक के पथिक हो गए।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—'समरसता' का सिद्धांत पाठ्य-पुस्तक से उदाहरण देकर समझाइए।

२—श्रद्धा से मिलने के पहले की मनु के मन की स्थिति का चित्रण कीजिए।

३—रचना में आए अलंकारों को स्पष्ट कीजिए और बताइए कि वर्णनों में प्रधान रूप से किन अलंकारों का प्रयोग किया गया है और क्यों।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' हिंदी में बंगभाषा से प्रवृत्तियाँ लेकर आए। इनका जन्म ही बंगाल के मेदनीपुर जिले में संवत् १९५५ में माघ शुक्ला एकादशी को हुआ था, किंतु जात्या हैं ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण। बँगला के साथ ही संस्कृत का अच्छा अभ्यास होने से इनकी भाषा में माधुर्य एवं नाद-सौंदर्य के साथ ही साथ 'अर्थ अमित अति आखर थोरे' का घनत्व भी है। कहीं कहीं घनत्व इतना घना और गूढ़ भी हो जाता है कि पाठक या श्रोता को ज्ञान का सारा भांडार खालना और खो देना पड़ता है।

काव्य की किसी भी रचना का मूल आधार, चाहे वह प्रबंध हो या मुक्तक, आलंबन ही होता है। व्रजभाषा में मुक्तक के क्षेत्र में कृष्ण, राधिका, गोपियाँ आदि शृंगार रस के सर्वमान्य आलंबन थे, किंतु खड़ी बोली में जब पुरानी परिपाटी के प्रति विद्रोह किया गया तो कृष्ण आदि सर्वस्वीकृत आलंबनों से भी पीछा छुड़ा लिया गया। इससे दो कार्य सिद्ध हुए। एक तो यह कि हिंदी-कविता जो घोर शृंगार में विशेष उलझी थी उससे बहुत कुछ मुक्त हो गई। फलतः हिंदी को तरह तरह के विषयों, वर्णनों आदि के लिए जगत् के अन्य भावों की प्रशस्त भूमि भी मिली जैसे देश-भक्ति, शृंगारेतर अनेक प्रकार की अन्य रागमूलक मानसिक स्थितियाँ, स्वच्छंद प्रकृति के प्रति प्रेम आदि। दूसरे यह कि राधा-कृष्ण के नाम पर जो कहीं कहीं सांप्रदायिकता और सामान्य लौकिक प्रेम-वृत्ति की विकृति होने लगी थी उससे भी छुटकारा मिला। किंतु इसके साथ ही सगुण से दृष्टि हट गई, निर्गुण की ओर फिर चली गई और रहस्यवाद का सहारा लेकर प्रेम की व्यंजना निराकार निर्विकार ब्रह्म के प्रति होने लगी। काव्य का स्तर और ऊँचा करने की प्रवृत्ति भी लोगों में जगी। 'निराला' जी इस सबमें बहुत आगे बढ़े हुए हैं। व्रजभाषा के कृष्ण-भक्तों में

यमुना का गुणगान भक्ति-भावित हृदय से हुआ है। किंतु 'निराला' जी ने अपनी रचना 'यमुना के प्रति' में मानवता के हृदय से उसे देखा है। इस कविता में यमुना-तट के सौंदर्य का वर्णन जिज्ञासा के रूप में यमुना को ही संबोधित करके किया गया है। यह 'संबोधन-शैली' रहस्यवादी युग की एक बहुत प्रचलित वर्णन-प्रणाली ही है। कवि तरह तरह के भावों की कल्पना करके यमुना से प्रश्न करता है। जिन जिन भावों की कल्पना की जाती है उनका भी कोई न कोई पुष्ट आधार होता है। यह साधारण सी बात है कि किसी के क्रिया-कलाप, वेश-भूषा, चाल-ढाल, बातचीत आदि से दूसरा उसका अभिप्राय समझने का प्रयत्न करता है। यमुना को देखकर कवि ने जिन भावों की कल्पना की है वह उसके जल के आंदोलन, ध्वनि, प्राकृतिक परिस्थिति आदि के आधार पर ही हुई है। कवि का ध्यान उस अतीत पर भी गया है जब यमुना के किनारे कृष्ण खेला करते थे, साथ ही ये उन विरही-विरहिणियों को भी नहीं भूले हैं जो कृष्ण के प्रवास से दुखी थे। यमुना को देखकर इन्हें कृष्ण की उस माधुर्य-पूर्ण क्रीड़ामयी मूर्ति का स्मरण हो आता है जिसकी उपस्थिति में सारा ब्रजमंडल रस-मग्न था और जिसके जाते ही सारा प्रांत अपार वियोग-सागर में डूब गया। कवि को यमुना आज भी उसी विरह में दुखी दिखाई देती है। लहरों को देखकर वह यमुना से पूछता है कि—

यमुने तेरी उन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?

'यमुना के प्रति' कविता में कवि ने कृष्ण के हास-विलास, क्रीड़ा-कौतुक, वर्षा-विहार, गोपी-विरह आदि उन सभी विषयों का वर्णन कर डाला है जो ब्रजभाषा में प्रधान रूप से मिलते हैं किंतु उन्होंने वर्णन की जो परिपाटी ग्रहण की है उससे सभी बातें नवीन जान पड़ती हैं।

'भर देते हो' शीर्षक कविता रहस्यवादी रचना है इसमें परमात्मा की दया

और नव-स्फूर्तिदायिनी शक्ति का वर्णन है। 'जागा फिर एक बार' शीर्षक रचना वीररस-पूर्ण है। वर्तमान समय में ऐसी रचनाओं की बहुत माँग है। इसमें गुरु गोविंदसिंह के वे उद्बोधक उपदेश हैं जिनसे उन्होंने सिख-जाति को जगाया था। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति की रग-रग में यह संदेश भर दिया था कि अपने को कभी निर्बल या छोटा मत समझो। एक एक व्यक्ति सवा सवा लाख शत्रुओं को अकेले जीत सकता है। ब्रजभाषा की पुरानी कविता में ऐसे उद्बोधन के गीत नहीं मिलते।

'निराला' जी ने सबसे अधिक ख्याति पाई है छंदों के नूतन-विधान में। खड़ी बोली का युग हिंदी-कविता-क्षेत्र में क्रांति लेकर आया। ब्रजभाषा का विरोध चारों ओर से आँखें मूँदकर होने लगा था। अँगरेजी की नकल इतनी बढ़ रही थी कि लोग अपनापन भूलते जा रहे थे। कवियों को ब्रजभाषा के सुव्यवस्थित छंदो-विधान के मात्रा, वर्ण आदि के बंधन खलने लगे। अतः 'निराला' जी अमेरिका के वाल्टह्विटमैन की बंगानुकृति के आधार पर केवल लय के बल पर छंद-रचना कर चले। किसी चरण में दो वर्ण रखे तो किसी में दस-बीस। लय भी ऐसी रखी कि साधारणतया पढ़ने पर रचना नादबद्ध गद्य के रूप में पढ़ी जा सके। इनका 'बादल-राग' ऐसा ही है। विषय के विचार से इसमें बादल के गर्जन, उसके विभिन्न स्वरूप, बरसाती दृश्य आदि सभी बातों का सम्यक् चित्रण है। पुरानी परंपरा से विरोध होते हुए भी 'निराला' जी भारतीय परंपरा से सर्वथा पृथक् नहीं हो सके हैं। परंपरा में प्रसिद्ध बादल की सवारी वायु और प्रावृट् में नायिकाओं के बाट जोहने की उत्कंठा आदि को भी इन्होंने अपनी रचना में स्थान दिया है। इनके संबोधन में भी भाव भरे रहते हैं। 'अश्रु' के रूपक से दुख की कितनी सुंदर व्यंजना हो रही है—

सिंधु के अश्रु !
धरा के खिन्न दिवस के दाह !
बिदाई के अनिमेष नयन !—आदि।

इनकी शैली रहस्यवादी कवियों की स्वगत-भाषणवाली शैली है। ये अप्रस्तुत का विधान बहुत अधिक करते हैं वह भी ऐसे अप्रस्तुतों का विधान

यमुना का गुणगान भक्ति-भावित हृदय से हुआ है। किंतु 'निराला' जी ने अपनी रचना 'यमुना के प्रति' में मानवता के हृदय से उसे देखा है। इस कविता में यमुना-तट के सौंदर्य का वर्णन जिज्ञासा के रूप में यमुना को ही संबोधित करके किया गया है। यह 'संबोधन-शैली' रहस्यवादी युग की एक बहुत प्रचलित वर्णन-प्रणाली ही है। कवि तरह तरह के भावों की कल्पना करके यमुना से प्रश्न करता है। जिन जिन भावों की कल्पना की जाती है उनका भी कोई न कोई पुष्ट आधार होता है। यह साधारण सी बात है कि किसी के क्रिया-कलाप, देश-भूषा, चाल-ढाल, बातचीत आदि से दूसरा उसका अभिप्राय समझने का प्रयत्न करता है। यमुना को देखकर कवि ने जिन भावों की कल्पना की है वह उसके जल के आंदोलन, ध्वनि, प्राकृतिक परिस्थिति आदि के आधार पर ही हुई है। कवि का ध्यान उस अतीत पर भी गया है जब यमुना के किनारे कृष्ण खेला करते थे, साथ ही ये उन विरही-विरहिणियों को भी नहीं भूले हैं जो कृष्ण के प्रवास से दुखी थे। यमुना को देखकर इन्हें कृष्ण की उस माधुर्य-पूर्ण क्रीड़ामयी मूर्ति का स्मरण हो आता है जिसकी उपस्थिति में सारा ब्रजमंडल रस-मग्न था और जिसके जाते ही सारा प्रांत अपार वियोग-सागर में डूब गया। कवि को यमुना आज भी उसी विरह में दुखी दिखाई देती है। लहरों को देखकर वह यमुना से पूछता है कि—

यमुने तेरी उन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?

'यमुना के प्रति' कविता में कवि ने कृष्ण के हास-विलास, क्रीड़ा-कौतुक, वर्षा-विहार, गोपी-विरह आदि उन सभी विषयों का वर्णन कर डाला है जो ब्रजभाषा में प्रधान रूप से मिलते हैं किंतु उन्होंने वर्णन की जो परिपाटी ग्रहण की है उससे सभी बातें नवीन जान पड़ती हैं।

'भर देते हो' शीर्षक कविता रहस्यवादी रचना है इसमें परमात्मा की दया

और नव-स्फूर्तिदायिनी शक्ति का वर्णन है। 'जागा फिर एक बार' शीर्षक रचना वीररस-पूर्ण है। वर्तमान समय में ऐसी रचनाओं की बहुत माँग है। इसमें गुरु गोविंदसिंह के वे उद्बोधक उपदेश हैं जिनसे उन्होंने सिख-जाति को जगाया था। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति की रग-रग में यह संदेश भर दिया था कि अपने को कभी निर्बल या छोटा मत समझो। एक एक व्यक्ति सवा सवा लाख शत्रुओं को अकेले जीत सकता है। व्रजभाषा की पुरानी कविता में ऐसे उद्बोधन के गीत नहीं मिलते।

'निराला' जी ने सबसे अधिक ख्याति पाई है छंदों के नूतन-विधान में। खड़ी बोली का युग हिंदी-कविता-क्षेत्र में क्रांति लेकर आया। व्रजभाषा का विरोध चारों ओर से आँखें मूँदकर होने लगा था। अँगरेजी की नकल इतनी बढ़ रही थी कि लोग अपनापन भूलते जा रहे थे। कवियों को व्रजभाषा के सुव्यवस्थित छंदो-विधान के मात्रा, वर्ण आदि के बंधन खलने लगे। अतः 'निराला' जी अमेरिका के वाल्टह्विटमैन को बंगानुकृति के आधार पर केवल लय के बल पर छंद-रचना कर चले। किसी चरण में दो वर्ण रखे तो किसी में दस-बीस। लय भी ऐसी रखी कि साधारणतया पढ़ने पर रचना नादबद्ध गद्य के रूप में पढ़ी जा सके। इनका 'बादल-राग' ऐसा ही है। विषय के विचार से इसमें बादल के गर्जन, उसके विभिन्न स्वरूप, बरसाती दृश्य आदि सभी बातों का सम्यक् चित्रण है। पुरानी परंपरा से विरोध होते हुए भी 'निराला' जी भारतीय परंपरा से सर्वथा पृथक् नहीं हो सके हैं। परंपरा में प्रसिद्ध बादल की सवारी वायु और प्रावृट् में नायिकाओं के बाट जोहने की उत्कंठा आदि को भी इन्होंने अपनी रचना में स्थान दिया है। इनके 'बोधन में भी भाव भरे रहते हैं। 'अश्रु' के रूपक से दुख की कितनी सुंदर व्यंजना हो रही है—

सिंधु के अश्रु !
धरा के खिन्न दिवस के दाह !
बिदाई के अनिमेष नयन !—आदि।

इनकी शैली रहस्यवादी कवियों की स्वगत-भाषणवाली शैली है। ये अप्रस्तुत का विधान बहुत अधिक करते हैं वह भी ऐसे अप्रस्तुतों का विधान

जो प्रायः कवि-समय-सिद्ध नहीं हुआ करते, बिल्कुल नवीन होते हैं। ये उनमें आकृति और गुण के साम्य का पूरा ध्यान रखते हैं। इनकी रचना में कुछ ऐसी सांकेतिक शब्दावली होती है जिसे पहिचान लेने पर अप्रस्तुत से प्रस्तुत तक सरलतापूर्वक पहुँचा जा सकता है। कवि भाव के अनुकूल भाषा लिखने में पूर्ण समर्थ है। ये ऐसी शब्दावली और छंदों का प्रयोग करते हैं जिनकी ध्वनि अर्थ से व्यक्त होनेवाले भाव के अनुकूल होती है। इनकी भाषा ऐसी अर्थपूर्ण और गठी हुई है कि अल्प-विराम आदि चिह्नों का गड़बड़ पाठक को झमेले में डाल सकता है। इनमें लिखने की शक्ति बहुत अधिक है, अनेक प्रकार के विषयों, वस्तुओं आदि को सशक्त रूप से काव्यबद्ध करने की क्षमता है। इनके काव्य-ग्रंथों में परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। 'राम की शक्तिपूजा' इनकी बहुत ही प्रौढ़ कृति है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—'निराला' जी की संकलित रचनाओं में प्रधान भाव क्या क्या हैं।

२—'निराला' जी के द्वारा प्रयुक्त छंदों की छानबीन करके नूतनता के विविध प्रयोगों का स्वरूप स्थिर कीजिए।

३—'बादलराग' शीर्षक का विवेचन करके उसका संकेत समझाइए।

४—कवि के भाषा-संबंधी प्रयोगों का विचार कीजिए और अर्थ-गौरव के कुछ उदाहरण व्याख्या-सहित दीजिए।

सुमित्रानंदन पंत

पंडित सुमित्रानंदन पंत का जन्म संवत् १९५८ में कसौली (जिला—अल्मोड़ा) में हुआ था। हिंदी के छायावादी क्षेत्र में पंतजी और 'प्रसाद' जी साथ ही दिखाई पड़े। पंतजी की रचनाओं का 'पल्लव' नामक संग्रह जिसमें नूतन अभिव्यंजना-प्रणाली तथा चित्रमयता का अत्यधिक संभार था, 'प्रसाद' जी के 'झरना' के प्रथम संस्करण के कुछ पहले ही प्रकाशित हो चुका था। पंतजी समय के साथ रहते हैं। ज्यों ज्यों समय रूप-रंग बदलता जाता है त्यों त्यों

इनकी रचना भी नई साज-सज्जा के साथ सामने आती है। क्या आर्थिक, क्या राजनीतिक, क्या सामाजिक सभी क्षेत्रों में भारतीय विचारधारा बड़ी द्रुत गति से बदलती जा रही है। 'गुंजन' में यदि पंतजी बदलते हुए समाज और प्राचीन तथा नवीन भावनाओं के संघर्ष से उत्पन्न परिस्थितियों की ओर झुके दिखाई देते हैं, तो 'युगांत' और 'युगवाणी' में समाजवाद और गांधीवाद की ओर उन्मुख जान पड़ते हैं। आजकल इनकी प्रवृत्ति प्रगतिवादी है।

पंतजी प्रकृति और सौंदर्य के अनन्य पुजारी हैं। इनकी दृष्टि चारों ओर विस्तृत भूखंड और उसपर विचरनेवाले सभी प्राणियों और वस्तुओं पर एक साथ पड़ती है। जब ये बादल का वर्णन करते हैं तब आलंबन या वर्ण्य पक्ष की दृष्टि से उसके रूप, रंग, गति, आकार, समय आदि का चित्रण तो करते ही हैं साथ ही सौंदर्यभाव से भावित आश्रय-पक्ष की दृष्टि से विभिन्न वर्गों का भी निरूपण करते चलते हैं। जैसे—

मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर
विहगवर्ग के गर्भ-विधायक
कृषक बालिका के जलधर।

'मदनराज के वीर बहादर' कहकर ये श्रृंगार की भावना की ओर भी संकेत कर रहे हैं। इनके दृश्य-चित्रण बहुत ही स्वाभाविक और सटीक होते हैं। बादलों में पशुओं की तरह तरह की आकृतियों का बनना, उनमें बिजलियों का चमकना, पक्षियों का उड़ना आदि में नवीन उद्भावना तो है ही बहुत मधुर और सुंदरतापूर्ण अंकन भी है।

'पल्लव' की भूमिका में व्रजभाषा की श्रृंगारी कविता को पंतजी ने बड़ी जली-कटी कही है। पर श्रृंगार-भावना शाश्वत भावना है—बाह्य और आभ्यंतर स्वरूपों की कल्पना करके उसमें 'कु' 'सु' का भेद भले ही कर लिया जाय। आज के कवि श्रृंगार की इस भावना से कोरे नहीं रह सके हैं। उन्हें भी रसराज का स्वागत करना ही पड़ा है। स्वयं पंतजी ने प्रकृति-चित्रण में श्रृंगारी प्रवृत्ति यत्र तत्र बराबर दिखाई है। 'ऊषा-वंदना' में इसकी झलक है।

'वसंत' में प्रकृति शृंगार के उद्दीपन का वैसा ही कार्य करती है जैसा वह बाहरी उद्दीपन के रूप में व्रज के नायिका-भेद के ग्रंथों में करती थी, केवल अभिव्यक्ति के स्वरूप का ही भेद है। प्रेरणा का भेद भी स्वीकार किया जा सकता है।

आधुनिक रचना में विदेशी-पद्धति पर गीतों में लोग यह देखना चाहते हैं कि किसी वस्तु या दृश्य के विषय में कवि के अपने भाव या विचार क्या हैं। उसका अपना व्यक्तित्व कितना है। जिस रचना में यह जितनी ही अधिक मात्रा में हो उसे वे उतनी ही अच्छी समझते हैं। पंतजी के गीत उनके व्यक्तित्व से आपूर्ण हैं। अपनी रचनाओं में वे जगत्-जीवन आदि के प्रति जिस आनंद, विषाद, जिज्ञासा आदि की व्यंजना करते रहते हैं उसमें उनके स्वानुभव और स्वविचार का अंश अधिक रहता है। पंतजी की 'संध्यातारा' 'द्रुत झरो' और 'ताज' कविता में इसका स्पष्ट आभास मिलता है। इन रचनाओं में आलंबन पर उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना जगत, जीवन और आत्मा के प्रति अपने विचारों की अभिव्यक्ति पर। ये कोमलकांत पदावली के लिए प्रसिद्ध हैं। शब्दावली तो संस्कृत की ही रखते हैं किंतु संयुक्ताक्षरों से युक्त शब्दों से बराबर बचते रहते हैं। इनकी कोमल वृत्ति ने हिंदी के व्याकरण पर भी चढ़ाई की है। बहुत से शब्दों को इन्होंने परिवर्तित लिंग में स्वीकार किया है। इन्हें कोमलकांत पदावली का ही नहीं कोमल भावों का भी आग्रह है। पंतजी में विषय-ग्रहण की दृष्टि से दो पद्धतियाँ दिखाई देती हैं। कभी ये आलंबन के विषय में स्वयं उसी से कहते हैं और कभी आलंबन अपनी बात स्वयं कहता है। पहली को ऐतिहासिक या अन्य-पुरुषवाचक तथा संबोधित होने पर मध्यम-पुरुषवाचक शैली कहेंगे। दूसरी को आत्म-कथात्मक या उत्तम-पुरुषवाचक। पहली में इनके व्यक्तिगत विचारों का लदाव अधिक होता है किंतु दूसरी में विषय (आलंबन) की ही प्रधानता रहती है।

अब तक पंतजी के काव्य संग्रहों में इतनी रचनाएँ प्रसिद्धि पा चुकी हैं—उच्छ्वास, पल्लव, गुंजन, युगांत, युगवाणी, ग्राम्या, ग्रंथि, वीणा। इनकी चुनी हुई रचनाओं का एक संग्रह 'पल्लविनी' नाम से भी प्रकाशित हो चुका है जिसमें

'पल्लव' की कुछ रचनाओं में आश्रय रूप से गृहीत 'नारी' को 'नर' कर दिया गया है। रहस्यात्मक रचनाओं में 'ज्योत्स्ना' नाम का इनका एक अभ्यवसित नाटक भी प्रसिद्ध है जिसमें इनकी रमणीय कल्पना कुछ प्राकृतिक दृश्यों, मानवीय गुणों और मानसिक वृत्तियों को नराकार रूप में सामने लाई है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—'बादल' शीर्षक कविता के आधार पर बादल पर एक छोटा-सा निबंध लिखिए।

२—'संध्यातारा' और 'ताज' में व्यक्त पंतजी के विचारों की व्याख्या कीजिए।

३—रूप-चित्रण में पंतजी कहाँ तक सफल हुए हैं उदाहरण देकर समझाइए।

४—पंतजी की भाषासंबंधी विशेषताओं का विवेचन कीजिए।

जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

'हितैषी' जी खड़ी बोली में अपने कवित्त-सवैयों में व्रजभाषा की सी मधुरता के लिए विख्यात हैं। प्रस्तुत संग्रह में इनके दो प्रकार के छंद हैं—(१) प्रकृति-वर्णन संबंधी और (२) उपदेशात्मक सूक्ति के रूप में। प्रकृति-वर्णन किया तो गया है अलंकारों की सहायता से ही किंतु उद्भावनाएँ नई नई हैं। नवें और दसवें छंदों में वसंत-वर्णन शृंगार के उद्दीपन के रूप में हुआ है। इनमें हृदय की विकलता की अभिव्यंजना अच्छी हुई है। प्रकृति-विषयक छंदों में इन्होंने गतिशील दृश्यों का चित्रण बहुत सरस और प्रभावुक किया है।

'हितैषी' जी का अपना जीवन-संदेश भी है। भूत-भविष्य के पाप-पुण्य में पड़ना और वर्तमान के सुख को छोड़ना इन्हें पसंद नहीं। इनके विचार से कुकर्म पर पश्चात्ताप करना और सुकर्म के मोद में विस्मृत हो जाना ठीक नहीं। यह संसार दुःखमय है (देखिए छंद १३, १६)। इसमें सदा प्रसन्न रहना ही जीवन का सार है (देखिए छंद ११)। यह सिद्धांत फारसी के विश्वविख्यात कवि उमरखैयाम का है। इनकी उपदेशात्मक सूक्तियाँ जीवन और संसार की

क्षणभंगुरता का पाठ पढ़ाती हैं। उनमें निर्वेद की हल्की-सी भावना भी लगी रहती है जिससे उनमें बहुत माधुर्यपूर्ण सरसता आ गई है।

इनकी रचना के धारा-प्रवाह का बहुत कुछ श्रेय इनके शब्दचयन को है। शब्दों के अर्थ और उच्चारण में किसी प्रकार का काठिन्य नहीं है। इनके कवित्त-सवैयों का अंतिम चरण व्रज के पुराने कवियों की भाँति ही चरमानुभूति का व्यंजक होता है। 'कल्लोलिनी' और 'नवोदिता' नाम के इनके दो ग्रंथ पहले प्रकाशित हो चुके हैं। इधर 'वैकाली' नाम की इनकी एक रचना और प्रकाशित हुई है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—'हितैषी' जी ने प्रधानतया किन किन अलंकारों का प्रयोग किया है।

२—'हितैषी' जी की वर्णनप्रणाली का विवेचन कीजिए और उदाहरण देकर उसका स्वरूप स्पष्ट कीजिए।

३—उपदेशात्मक सूक्तियाँ काव्य के अंतर्गत मानी जा सकती हैं या नहीं? 'हितैषी' जी की ऐसी सूक्तियों के काव्यत्व को परखिए।

४—'हितैषी' जी की रचनाओं से शब्द-चमत्कार के निम्नांकित ढंग के उदाहरण चुनिए और उनकी विशेषता बताइए—

(१) सुस्थिर मृत्यु का है क्षण एक।

(२) प्रतिक्षण का मरना नहीं अच्छा।

(३) ज्ञान-विज्ञान का कोश ता भाग में मेरे नहीं एक पाई पड़ा।

(४) सुमनों के बनों इक आग लगो पै नहीं कुसुमाकर रोके रुका।

५—'हितैषी' जी प्रकृति के किसी विशिष्ट दृश्य का पूर्ण चित्रण करने में कहाँ तक सफल हुए हैं—समझाइए।

माखनलाल चतुर्वेदी

पं० माखनलाल चतुर्वेदी 'एक भारतीय आत्मा' के नाम से कविता लिखते रहे हैं। इनके गद्य, पद्य, भाषण सभी में भावुकता का स्रोत बहता रहता है।

इनकी कविता का वास्तविक क्षेत्र राष्ट्रीय है जो इनके उपनाम से ही स्पष्ट है। किंतु इन्होंने देश-प्रेम के अतिरिक्त अन्य भावों पर भी बहुत सी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं।

चतुर्वेदीजी का ध्यान जीवन पर अधिक रहता है। वह किस ओर बह रहा है और उसे किस ओर बहना चाहिए इसका संकेत वे बराबर करते रहते हैं। इनकी 'दो साधें' कविता में मनुष्य के जीवन की दो परस्पर विरोधी धाराओं का समन्वय है। एक धारा वह है जिसमें मनुष्य अखिल संसार के भोग-विलास में पूर्ण रूप से लिप्त रहना चाहता है और दूसरी धारा वह है जिसमें मनुष्य इस संसार से विमुख होकर परमार्थ में लगता है। ये दोनों ही मनुष्य के लिए हितकर नहीं हैं। चतुर्वेदीजी कहते हैं—

एक जागते में, जगती के
भाव बिके सुख लहती,
और दूसरी अनजाने में
मिट जाने को कहती;
हाय! काँच के सपने क्रूर
मत कर जीवन चकनाचूर।

दूसरी रचना 'झरना' में झरने को आदर्श व्यक्ति के सब गुणों से युक्त कल्पित किया गया है। उससे तुलना कर कवि अपनी कमी बतलाना चाहता है। इसे अन्योक्ति के ढंग पर समझना चाहिए। जितनी शक्ति, परोपकार की भावना, उदारता आदि झरने में दिखाई देती है उतनी उसमें नहीं। झरना पृथ्वी को स्वर्ग बना देता है किंतु मनुष्य उसे नरक। इस रचना में कवि मनुष्य के चरित्र-निर्माण की ओर विशेष झुका दिखाई देता है। मनुष्य को झरने के सदृश ही शक्तिशाली, परोपकारी, उदार आदि होना चाहिए।

चतुर्वेदीजी मध्यप्रांत के प्रमुख राष्ट्रीय कार्यकर्ता भी हैं और वहाँ के प्रमुख पत्र 'कर्मवीर' के संपादक भी। किसी कर्मवीर में जो जो गुण होने चाहिए उन सबको वे प्रत्येक भारतीय में देखना चाहते हैं। वे देश के नवनिर्माण का

उत्तर... ...व भलीभाँति समझते हैं। यही कारण है कि उन पुरानी रूढ़ियों और परंपरागत भावनाओं से विद्रोह भी करते हैं जो मनुष्य को कर्तव्य-पथ पर अग्रसर होने से रोकती हैं। साथ ही उन नवीन बुराइयों का भी तीव्र विरोध करते हैं जो मनुष्य को अनैतिक भौतिकता में ही छिपाए रखना चाहती है और उसे ऊपर उठने का—लोक की विस्तृत भूमि पर पहुँचने का अवसर नहीं देतीं। देश की विचारधारा को समझते हुए वे सबके बीच में से अपना सुव्यवस्थित और सुचारु मार्ग निकाल लेते हैं। वे अपने भारतीय आदर्श को सदा ऊँचा रखना चाहते हैं। हैं भी तो वे 'एक भारतीय आत्मा'।

इनमें कहीं उलझन नहीं है। भाषा, भाव और अभिव्यंजनशैली इनकी इतनी मनोहर और स्पष्ट है कि पाठक सहज ही में इनके अभिप्रेत लक्ष्य तक पहुँच जाता है। छायावादियों की सी शब्दावली होते हुए भी इनकी रचना में किसी प्रकार की दूरारूढ़ व्यंजना नहीं दिखाई देती। इनकी कृतियों का 'हिमकिरीटिनी' नामक संग्रह सम्मेलन से पुरस्कृत भी हो चुका है। ये स्वयं सम्मेलन के सभापति भी रह चुके हैं।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—चतुर्वेदीजी ने झरना में जितने गुण बताए हैं उनको निबंध के रूप में सजाइए।

२—पाठ्य-पुस्तक में संकलित चतुर्वेदीजी की कविताओं के आधार पर मानव की चरित्रगत विशेषताओं और जीवन-यापन की विधि का वर्णन कीजिए।

३—पाठ्य-पुस्तक में संकलित चतुर्वेदीजी की किस रचना को आप सबसे अच्छी समझते हैं और क्यों?

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

ये राष्ट्रीय कवि तो हैं ही समाजवादी विचारों का भी उसी दृष्टि से स्वागत करते हैं। समाजवाद के अनुसार व्यक्ति का नहीं समाज का महत्त्व है और प्रत्येक सामाजिक प्राणी का उस दृष्टि से समाज पर समान अधिकार है।

वर्तमान समय में उसका लक्ष्य दलित या शोषित को उठाना और श्रेयता पहुँचाना है; लोक में उनके प्रति सहानुभूति उत्पन्न करना है। इसके लिए दूसरे पक्ष की केवल भर्त्सना ही नहीं की जा सकती उसे मानवता की सर्व-सामान्य भूमि पर उतारा भी जा सकता है, उसके स्वरूप के शाश्वत निरूपण द्वारा। 'नवीन' जी दूसरे मत के समर्थक हैं। वे किसी के प्रति घृणा उत्पन्न करना नहीं चाहते। उनका लक्ष्य प्रधान रूप से दीन-दुखियों, किसानों-मजदूरों के प्रति सहानुभूति प्रकट करना ही है। उनकी 'एक नीम' कविता में अकाल के किसी दीन कृषक की कहानी है जो अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र चला गया है। उसका सहचर नीम आज उसके दुःख से दुःखित है किंतु मनुष्य अपनी जाति-वालों के क्लेश का जरा भी ध्यान नहीं करता। कवि ने एक उजड़े हुए घर का बहुत ही करुण वर्णन किया है। दीनों का यही दुःख सहृदयों में दया का संचार करता है और उसी दया से प्रेरित होकर उनमें दुःख दूर करने का उत्साह जगाता है। आज इसी उत्साह से क्रांति करने की चर्चा चारों ओर व्याप्त है। 'नवीन' जी भी इस क्रांति की ओर संकेत करते हैं (देखिए छंद ८)।

'नवीन' जी छायावादी रचना-प्रणाली में सिद्धहस्त हैं। 'आई यह अरुणा सुकुमारी' शीर्षक कविता में अरुणा (ऊषा) को सुकुमारी के रूपक द्वारा शृंगारी परिस्थिति के साथ छायावादी पद्धति पर ही चित्रित किया गया है। उस रचना में सांग रूपक का निर्वाह आदि से अंत तक बहुत अच्छे ढंग से हुआ है।

'यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन' शीर्षक कविता मानव के दार्शनिक तथा वैज्ञानिक विकास का इतिहास है। ब्रह्म-सृष्टि-विकास इसके तत्त्व हैं, विद्युत्कण आदि अणुशक्ति के अनुसंधान का क्रम से वर्णन है। मनुष्य न जाने कब से कितना ज्ञान एकत्र कर रहा है। भाँति भाँति के विवेचन कर रहा है फिर भी आज तक वह इस सृष्टि का रहस्य न जान सका। इस कविता का जैसा दार्शनिक विषय है वैसी ही इसकी भाषा भी है। संस्कृत की दार्शनिक पदावली इसमें भरी पड़ी है। नाना मतमतांतरों का समावेश इस रचना में विकास-क्रम से हुआ है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

(१) 'यह रहस्य-उद्घाटन-रत जन' में वर्णित भारतीय दर्शन और पश्चिमी विज्ञान दोनों का पृथक् पृथक् विवेचन कीजिए।

(२) 'एक नीम' में किस आंतरिक भाव की प्रधानता है ?

(३) 'आई यह अरुणा सुकुमारी' में प्रभात के उल्लास का वर्णन करने में अलंकृत शैली से कैसी सहायता मिली है।

भगवतीचरण वर्मा

अँगरेजी के संपर्क से हिंदी में वादों की विशेष धूम मची। कुछ दिनों तक रहस्यवाद और छायावाद की धूम थी। किंतु पच्चीस वर्ष बीतते न बितते वे समाप्त हो चले। अब प्रगतिवाद नाम से नई धारा फूटी है। रहस्यवाद और छायावाद में तो कवि लोग अखिल विश्व, स्वच्छंद प्रकृति और मानवता की उच्चभूमि लेकर चले थे किंतु प्रगतिवाद में उनकी दृष्टि नगरों तक ही परिमित है। उसके बाहर क्या है उस ओर प्रायः वे नहीं जाते। किसी ने कुछ दृष्टि का विस्तार किया तब कहीं जाकर कृषक तक पहुँचता है। इसका कारण स्पष्ट है। कवि गण बुद्धि से विशेष परिचालित हैं हृदय से कम। वर्तमान युग में सामाजिक उथल-पुथल बड़ी तीव्रता से हो रहा है। जिनके पास द्रव्य है वे तो सुख की नींद सोते हैं और जो निर्धन हैं वे दुःख की चक्की में पिस रहे हैं। यह वैषम्य बहुत दिनों से चला आ रहा है किंतु आज इसके कारण समाज की काया ही पलट चली है। संपन्नों और विपन्नों का यह वैषम्य नगरों में स्पष्ट दिखाई देता है। ग्रामों में प्रायः सर्वत्र निर्धनता ही है। इसी से कवियों के लिए आकर्षण यहीं दिखाई देता है। यद्यपि नागरिक श्रमिकों की अपेक्षा ग्रामीण कृषक बहुधा अधिक निर्धन और विपन्न हैं तथापि नगरों में ही रहने के कारण कवियों की दृष्टि श्रमिकों पर ही अधिक जाती है। वे कृषकों की दीनावस्था न देख ही पाते हैं और न उनका करुण क्रंदन सुन ही सकते हैं। अतः प्रगतिवादियों की रचना में शोषक नागरिक धनीवर्ग के प्रति कुत्सा और शोषित-दलित नागरिक श्रमिक वर्ग के प्रति दया

या करुणा का भाव व्यक्त रहता है। एक ओर तो वे नगर की टीमटाम, धनिकों के ठाट-बाट और उनके हड्डी-चिचोड़ अत्याचार का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर निर्धन दीन-दुखियों के दूभर तथा कष्टमय जीवन का चित्रण।

वर्मा जी की 'एक घटना' शीर्षक कविता ऐसी ही है। भारत के प्रमुख नगर कलकत्ता की ट्राम गाड़ी का वर्णन है—एक तो छोटी सी गाड़ी और उसमें सभी वर्गों के लोगों की भीड़, तिसपर चढ़ने-उतरने का तौंता लगा हुआ। दासत्व की मनोवृत्ति कुछ ऐसी हो गई है कि जहाँ किसी को फैशन से देखा कि कष्ट सहकर भी उसके लिए स्थान बना दिया, विशेष कर किसी नवीन धनी युवती को देखकर। किंतु वहीं जब कोई अशक्त दुखी वृद्धा दिखाई देती है तो कोई मिनकता तक नहीं। लोग देखकर भी अनदेखी कर जाते हैं या मुँह फेर लेते हैं। होना तो यह चाहिए कि पहले दुखी को स्थान मिले, किंतु होता यह है कि सुखी को पहले स्थान मिलता है। इस कविता में वर्माजी ने आज कल की कुत्सित मनोवृत्ति का बढ़िया चित्र खींचा है। निश्चय ही समाज की ऐसी मनोवृत्ति का अंत होना चाहिए। कवि ने ठीक ही कहा है, 'पशु बनकर मानव भूल गया है मानवता का नाम-गाम'। नई स्वच्छंदतावादी रचना में जिस प्रकार समाज की मनोवृत्तियों का चित्रण किया जाता है उसी प्रकार उसकी भाषा भी सीधी सादी रखी जाती है, छायावादियों की तरह रंगीन नहीं। छायावादी जहाँ लोक से अलग दिखाई पड़ रहे थे वहाँ प्रगतिवादी लोक में मिले दिखाई दे रहे हैं। उनका सारा प्रयत्न खोई हुई सामाजिकता की पुनः स्थापना करने की ओर है। प्रगतिवाद समाज की वास्तविकता को लेकर चला है। यथार्थ ही उसकी प्रकृति भूमि है, आदर्श अभी छोड़ दिया गया है। वर्माजी की 'एक घटना' शीर्षक रचना आदि से अंत तक यथार्थ की प्रकृत भूमि पर ही दिखाई देती है। भाव और भाषा सबमें प्राकृत जन और प्राकृत प्रवाह की दृष्टि है। बोल-चाल के शब्द टीमटाम, खचाखच, नाम-गाम आदि के प्रयोग भाषा की स्वाभाविकता का अच्छा परिचय दे रहे हैं।

वर्माजी केवल कवि ही नहीं हैं कथाकार भी हैं। आपके 'चित्रलेखा' उपन्यास की बहुत ख्याति है, उसमें पाप-पुण्य की मार्मिक व्याख्या है। वह हिंदी में अपने

ढंग का अकेला उपन्यास है। उस उपन्यास की फिल्म भी बन चुकी है। आजकल वर्माजी फिल्म कंपनी में ही काम भी कर रहे हैं। वर्तमान तरुण युवक कवियों में वर्माजी का विशिष्ट स्थान है, प्रगतिवाद के प्रकृत स्वरूप का आभास किसी विदेशी वाद के चक्कर में पड़े बिना ही इन्होंने बहुत पहले दे दिया था।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

(१) 'एक घटना' में समाज की किस मनोवृत्ति का और कैसा चित्रण किया गया है।

(२) सामाजिकता क्या है और लोक में मनुष्य को कैसा आचरण करना चाहिए—'एक घटना' के आधार पर बताइए।

(३) वर्तमान नागरिक जीवन का चित्रण कीजिए। उसके लिए 'एक घटना' से भी सहायता लीजिए।

(४) 'एक घटना' से भाषा के चलते शब्द और प्रयोग छाँटिए और बोलचाल की भाषा की ग्राह्यता पर एक छोटा सा निबंध लिखिए।

सोहनलाल द्विवेदी

पं० सोहनलाल द्विवेदी राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत हैं। इनकी दृष्टि देश की उस आवश्यकता पर भी गई है जो देश के चरित्र को ऊँचा उठाकर इतनी शक्ति और साहस का संचार कर सके जो उसे स्वतंत्रता प्राप्त करने में योग दे। अतः इन्होंने लोकविश्रुत वीरों को अपनी कविता के नायक बनाकर वीरोद्बोधन के बहुत ही सरस गीत गाए हैं। महाराणा प्रताप ने अपने देश की स्वाधीनता के लिए कौन कौन से कष्ट नहीं भोगे! राजा होते हुए भी उन्हें दर दर मारे मारे फिरना पड़ा, घास की रोटी तक खानी पड़ी। फिर भी वे अपने लक्ष्य से कदापि विचलित नहीं हुए। द्विवेदी जी ने राणा प्रताप के प्रति जो कुछ कहा है उसमें उनकी कष्ट-सहिष्णुता और कृत-संकल्पत्व की बहुत ही प्रभावोत्पादक व्यंजना है। इस रचना में एक पीड़ित की पुकार है जिसे प्रताप जैसे स्वतंत्रता के पुजारी की अपेक्षा है जो उसे सभी प्रकार के उत्पीड़नों से उसी प्रकार छुड़ा सके जैसे राणा प्रताप ने अपने मेवाड़ को बचाया था।

'उर्वशी' में आर्यसंस्कृति के उस चरित्रबल के दर्शन कराए गए हैं जिस पर आज भारत को गर्व है। पार्थ (अर्जुन) बहुत बड़े वीर थे जिनकी सहायता इंद्र ऐसे शौर्य के प्रतीक को भी देवासुर-संग्राम में अपेक्षित हुई और जिनके कारण ही देवतागण उस युद्ध में सफल हो सके। स्वर्ग की एक परम सुंदरी अप्सरा उर्वशी ने—जिसके रूप ने किसको विचलित नहीं किया—इस अदम्य पौरुषवान् के समक्ष काम-भिक्षा माँगी, किंतु उसका रूप-गुण अनुनय-विनय आदि कुछ भी पार्थ को अपने धर्म से विचलित न कर सका। अर्जुन ने शप्त होकर नपुंसक हो जाना अच्छा समझा, किंतु 'परदारेषु मातृवत्' के सिद्धांत का उल्लंघन करना उचित नहीं। लोक-नीति के समक्ष स्वार्थ का इतना बड़ा त्याग आर्य-संस्कृति का बहुत बड़ा गुण है जिसके कारण आज भी लोक में उसकी यशः पताका फहरा रही है।

द्विवेदीजी की 'वासवदत्ता' और 'कुणाल' नामक रचनाएँ भी बहुत उत्कृष्ट हैं। इनकी राष्ट्रीय कविताओं का संग्रह 'भैरवी' नाम से प्रकाशित हुआ है। भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से आप बहुत प्रभावित हैं विशेष कर महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व से। आपने गाँधीजी की वर्षगाँठ पर उनकी प्रशंसा के संसार की विभिन्न भाषाओं के बहुत ही आकर्षक छंदों का संग्रह प्रकाशित किया है। आप में जीवन, उत्साह, तारुण्य और वेग लहराया करता है।

द्विवेदीजी की वर्णन-प्रणाली भी विषय के अनुरूप ही होती है। ये प्रधानतया उग्र भावों के ही कवि हैं। इनकी भाषा में इसी से ओज का अच्छा निदर्शन है। संस्कृत के गंभीर ध्वनिवाले शब्दों का प्रयोग जमकर हुआ है। किसी भाव को व्यक्त करने के लिए प्रायः एक से भावों और एक सी ध्वनि उत्पन्न करनेवाले पदों की योजना बहुत ही ललित है। जैसे उर्वशी की व्यग्रता व्यक्त करने के लिए ऐसी शब्दावली आई है—

तो क्या, निवेदिता, समर्पिता
चली जाय उर्वशी आज यों उपेक्षिता !"

द्विवेदीजी की यह पद्धति किसी बात को पूरे जोर से सामने रखती दिखाई देती है। उनमें ओज के साथ ही प्रसाद गुण भी है।

जैसे—

देखता रहा सदैव कौतुक कौतूहल से
विस्मय से, हलचल से,
सोचता रहा सदैव कितनी तुम
गरिमामयी, महिमामयी,
तपोमयी, तेजमयी,
जिससे उद्भूत हुआ निर्मलतम
देववंश ।

छंदायोजना में द्विवेदीजी भी स्वच्छंद हो गए हैं । बिना वर्ण या मात्रा की व्यवस्था के लय के आधार पर छंद का निर्बंध विधान है । उर्वशी में कोई पंक्ति तो एक ही शब्द की है और कोई दस पाँच की । ऐसे छंदों में पद्य का तो वैसा चमत्कार नहीं रह जाता, किंतु गद्य का विशेष चमत्कार अवश्य रहता है । नाद-सौंदर्य का एकांत त्याग इस प्रकार की रचनाओं में नहीं रहा करता क्योंकि लय का सहारा लेकर ही ये निर्मित होती हैं । गद्य के पद्य में ढलने की ओर उन्मुख स्थिति का आभास रहता है । भाषा हमारे भावों को ज्यों का त्यों अभिव्यक्त करने में प्रायः असमर्थ रहती है । अब यदि छंद का भी बंधन लग जाय तो प्रकृत भाव बहुत विकृत हो जाता है इसी लिए ऐसी रचनाएँ भाव के वेग के रूप में छंद-बंध का त्याग करके निर्मित होती हैं ।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—द्विवेदीजी की रचना में प्रयुक्त विशेषणों का संग्रह कीजिए और उसमें प्रवाहित भावधारा का पता लगाइए ।

२—अर्जुन के चरित्र पर छोटा सा निबंध लिखिए ।

३—द्विवेदीजी की राष्ट्रीय चेतना उनकी प्रस्तुत रचनाओं में किस रूप में मिलती है इसे स्पष्ट कीजिए ।

४—राणा प्रताप के स्वाधीनता-संग्राम और वर्तमान राष्ट्रीय संग्राम का तुलनात्मक विचार कीजिए ।

श्रीश्यामनारायण पांडेय

राजपूताने के क्षत्रिय अपनी वीरता के लिए बहुत प्राचीन काल से ही प्रख्यात रहे हैं। उस मरुभूमि में ऐसी विलक्षण विशेषता है कि वहाँ बाल-वृद्ध स्त्री-पुरुष सभी में उत्साह, साहस और जातीय गौरव की तरंगें लहराती रहती हैं। विशेषतः मेवाड़ और चित्तौड़ के सीसोदिया क्षत्रियों का गौरव तो आज भी उन्हें सबसे ऊँचे उठाए हुए हैं। पं० श्यामनारायण पांडेय इन सीसोदियों से बहुत प्रभावित हैं। आज जब स्वतंत्रता के पुजारियों की खोज है इनकी वीर रस प्रधान रचनाएँ बहुत ही सामयिक हुई हैं। 'त्रेता के दो वीर' तो इनकी बहुत पुरानी और आरंभिक रचना है। 'हल्दीघाटी' सचमुच इनकी बहुत प्रभावशाली कृति है, जिसके नायक सीसोदिया-कुल-भूषण, स्वतंत्रता के अनन्य पुजारी राणा प्रताप हैं। काव्य की दृष्टि से रचना सरस और ओजस्विनी है। लोक में इसका यथोचित संमान हुआ और यह देव-पुरस्कार से पूजी भी जा चुकी है।

इनकी तीसरी रचना 'जौहर' भी उसी वंश की कथा से संबद्ध है और उसमें जगत्प्रसिद्ध उन महारानी पद्मिनी की कथा कही गई है जिनके लिए तेरहवीं शती में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी। 'जौहर' भारतीय नारियों के कुलाभिमान तथा सतीत्व-रक्षा का ज्वलंत प्रतीक है। देश का वह गौरवमय युग था जब जातीय संमान की ऐसी भावना बच्चे-बच्चे में, स्त्री-स्त्री में और पुरुष पुरुष में भरी हुई थी। जाति और देश के संमुख व्यक्ति-पक्ष का कोई महत्त्व नहीं था; राजपूतों में कोरी वीरता ही नहीं थी, वे नीति-कुशल भी थे। रत्नसेन को बंदीगृह से छुड़ाना साधारण कार्य न था। राजपूतों ने जिस चतुरता और वीरता से यह कार्य संपन्न किया वह इतिहास में अद्वितीय है। पांडेयजी ने इस प्रसंग का बड़े विस्तार से वर्णित किया है। 'डोला' का प्रकरण उसी घटना से संबद्ध है। पांडेयजी को ध्वनियों से बहुत प्रेम है। वे सभी अवसरों पर उसका पूरा ध्यान रखते हैं। युद्ध के प्रसंग में तलवारों, बर्छियों आदि की ध्वनियाँ तो अपना पूरा जौहर दिखाती ही हैं 'डोला' के प्रकरण में भी उनका विचार रखा गया है। जिस छंद में इस प्रकरण की रचना हुई है वह कहारों की वाणी के अनुरूप ही है।

पांडेयजी की शैली में एक ही प्रकार की ध्वनिवाली पदावली का व्यवहार अधिक होता है। ऐसा करने के दो कारण हो सकते हैं। एक तो उत्साह का वातावरण उत्पन्न कर देना, दूसरे एक ही बात पर अधिक जोर देकर उसे विशेष शक्ति-संपन्न बनाना। इसके लिए नूतनता की उद्भावना अपेक्षित होती है जो पांडेयजी में सर्वत्र नहीं है। जैसे—

विघ्न ठेलते चलो।
हाँ, ढकेलते चलो।
मस्त रेलते चलो।
खेल खेलते चलो।

पात्र द्वारा व्यंजित भाव का वेग इतना तीव्र रहता है कि भाषा उसे सँभाल नहीं पाती, संस्कृत की पदावली के साथ उस वेग को इसी से अरबी-फारसी के शब्दों से व्यक्त कर देना पड़ता है जो कहीं कहीं बेमेल हो जाता है। जैसे—

'लक्ष्य तो महान है
एक इम्तिहान है।'

मुग्धभाव से इनका काव्य पढ़ते या सुनते समय इसपर ध्यान प्रायः नहीं जाता। क्योंकि भाव-प्रवाह के कारण वह मस्तिष्क में टिकता ही नहीं। सरल शब्दों और छोटे छोटे मीठे छंदों का प्रयोग काव्य का प्रवाह अनवरुद्ध बनाए रखने में बहुत सहायक हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि पांडेयजी ने काव्य के लिए ऐसे नायकों को चुना है जिनका नाम ही स्वयं काव्य है और जिनके उच्चारण मात्र से ही शरीर में वीरता की लहरें उठ जाती हैं।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—पांडेयजी के भाव-प्रवाह का विश्लेषण कीजिए और बताइए कि उसमें कितने प्रकार के भावों का मेल है।

२—छंद, भाषा और भाव के समन्वय की दृष्टि से 'डोला' की समीक्षा कीजिए।

३—ओजस्विता के विचार से श्यामनारायणजी पांडेय और सोहनलालजी द्विवेदी की रचनाओं की तुलना कीजिए।

४—प्राचीन काल का दृश्य उपस्थित करने में कवि को कैसी सफलता मिली है।

भारतेंदु हरिश्चंद्र

समाज और साहित्य के बीच जब गहरी खाई पड़ जाती है तब उसे भरने के लिए कोई न कोई कर्मठ कर्ता उठ खड़ा होता है, जिसका प्रयत्न समाज और साहित्य दोनों को फिर से एक कर देता है। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ऐसे ही युगप्रवर्तक महापुरुष थे। उधर तो हिंदी कविता शृंगारी प्रवृत्तियों में उलझी हुई थी और इधर समाज धीरे धीरे आगे बढ़ता जा रहा था। जनता की विचार-धारा में महान् परिवर्तन दृष्टिगोचर हो रहा था। समाज राष्ट्रीय भावना से प्रभावित हो रहा था और वैसे ही साहित्य की माँग भी कर रहा था। अतः कविता को शृंगार के रीतिबद्ध क्षेत्र से निकालने की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। कविता और पद्य-विभाग की तो यह स्थिति थी और गद्य-विभाग में साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश ही नहीं हुआ था। इस प्रकार देश में परिवर्तित भाव और समर्थ भाषा दोनों की लहर दौड़ाने की आवश्यकता थी। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने इसका गंभीरतापूर्वक अनुभव किया और हिंदी को सुव्यवस्थित मार्ग पर लगाया ही नहीं प्रत्युत उसका पुष्ट प्रचार भी किया। फलस्वरूप गद्य में खड़ी बोली हिंदी का झंडा तो निर्विरोध गड़ ही गया, पद्य में भी उसका प्रवेश थोड़ा थोड़ा हो गया। व्रजभाषा भी राष्ट्रीय चेतना से प्रभावित हुई और उसमें विविध विषयों का समावेश हुआ। यह भी स्मरण रखने की बात है कि भारतेंदु के उदय से लेकर आज तक कोई ऐसा कवि नहीं हुआ जिसने अपने रीति-ग्रंथ के ही बल पर काव्य-क्षेत्र में यथेष्ट कीर्ति पाई हो। भारतेंदु ने कवि-शिक्षा मात्र की रचना से हटाकर कवियों को वास्तविक काव्य-भूमि पर अवस्थित होने का संकेत किया और साहित्य को विकास और संवर्धन के नितांत नूतन मार्ग पर ला खड़ा किया।

ऐसे युगांतरकारी भारतेंदु का जन्म संवत् १९०७ वि० वे ऋषि पंचमी के दिन (९ सितंबर, सन् १८५०) हुआ था। बालपन से ही वे कुशाग्र बुद्धि थे। उनकी विद्वत्ता, बहुज्ञता, नीतिज्ञता तथा चमत्कारिणी बुद्धि के सभी लोग कायल थे। किंतु हिंदी का ऐसा समर्थकर्ता अल्पायु में ही दिवंगत हो गया।

६ जनवरी सन् १८८५ ई० में जब उनकी मृत्यु हुई, इनकी वय केवल ३४ वर्ष ४ मास की थी। उतनी अल्प आयु में सैकड़ों ग्रंथों की रचना, अनुवाद, संपादन आदि करना सचमुच ही विलक्षण कर्तृत्व था। सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने 'कवि-वचन-सुधा' नाम्नी पत्रिका निकाली थी जो उनके जीवन-काल तक बराबर निकलती रही। सत्रह वर्ष की अवस्था में उन्होंने चौखंभा स्कूल स्थापित किया था जो आज दिन काशी में 'हरिचंद्र इंटरमीडिएट कालिज' के नाम से प्रसिद्ध है। हिंदी के प्रचार के लिए उन्होंने कितनी ही संस्थाओं की स्थापना की। उस पुराने युग में भी वे स्त्री-शिक्षा के समर्थक और सहायक थे। लोकोपकार की राष्ट्रीय भावना उनमें कूट कूट कर भरी थी। उनके प्रशंसक भारत के प्रसिद्ध विद्वान् डा० राजेंद्रलाल मित्र, साहब शेरिंग, ईश्वरचंद्र विद्यासागर आदि ही नहीं थे इंगलैण्ड के तत्कालीन सुप्रसिद्ध पत्र ओवरलैण्ड, इंडियन होम मेल्स आदि भी थे। राजा शिवप्रसाद जब सितारे हिंद हुए तब हिंदीवालों ने बाबू हरिश्चंद्र को भी भारतेंदु की उपाधि से विभूषित किया।

हिंदी के लिए भारतेंदु ने स्वतः तो बहुत कुछ किया ही दूसरों से भी बहुत कुछ कराया। हिंदी में नाटकों की कमी थी। उन्होंने नाटक-निर्माण का काम उठाया और बहुत से छोटे मोटे नाटक स्वयं भी रचे और दूसरों से रचवाए भी।

भारतेंदुजी ने शृंगार के वियोग-पक्ष का चित्रण आलम, ठाकुर, घनआनंद, द्विजदेव आदि स्वच्छंदतावादी कवियों की शैली पर किया है। इसी से उनके काव्य का सौंदर्य हल्के शब्द-चमत्कार पर खड़ा न होकर हृदय-स्थित गूढ़ भाव पर स्थित है और लोक-व्यवहार की स्वाभाविक अनुभूति के मेल में है। उनका विरोधाभास भी अर्थगत वक्रोक्ति के ही आश्रित है शब्दगत वक्रोक्ति के नहीं (देखिए छंद ३)।

उनमें मनोदशा की पहचान अद्भुत थी। किस स्थिति में कोई कैसे कैसे सोचता विचारता है इसे वे खूब समझते थे और उसका चित्रण भी बड़ी योग्यता से करते थे।

भारतेंदुजी 'जग की रीति' के बहुत कायल थे। उनकी समस्त उक्तियों में इसकी निराली छटा दिखाई देती है। वे अपने प्रिय को भी बुलाते हैं तो जग की रीति के ही आधार पर (देखिए छंद २)। वे उद्धव को लौट जाने की सलाह भी देते हैं तो लोकोक्ति के ही आधार पर—'एक जौ होय तो ज्ञान सिखाइए कूप ही में यहाँ भंग परी है'। अपने प्रिय से चाहे कोई कितना ही अप्रसन्न क्यों न हो उसकी मृत्यु के समय अपने सारे भेद-भाव भुलाकर उससे अवश्य ही मिलता है। भारतीय संस्कृति का यह नित्य धर्म है। यह हृदय की विशालता का उदार स्वरूप है। उनका विरही इसी के आधार पर अपने प्रिय से मिलने की इच्छा करता है। उसे अपने प्रिय को कोई उलाहना नहीं देना है, अपने भावों से भी प्रभावित नहीं करना है। वह यही चाहता है कि मेरा प्रिय चाहे या न चाहे इसकी मुझे चिंता नहीं। मैं यही चाहता हूँ कि वह लोक की रीति न भूले और उसी के आधार पर मुझे केवल एक बार अपने दर्शन दे दे। इतने से ही मुझे संतोष मिल जायगा और मैं मानस-द्वंद्व से मुक्त हो जाऊँगा।

कवि का प्रेमी रूप का अनन्य उपासक है। नेत्रों की तृप्ति ही उसे अभीष्ट है। इसी के हाथ वह बिकता है (देखिए छंद ५), इसी के कारण उसके 'पगन में छाले पड़े'। इस की प्राप्ति ही उसका अंतिम अभिलाष है। नैन की पीर से उसे सपने में भी चैन नहीं। कवि की प्रेमिका को भी रूप की इतनी चाट है कि संयोग में वह 'रूप-सुधा इकली ही पियै पियहू को न आरसी देखन देति है।' रूप-लोभ के वशीभूत होकर उसने यह भी प्रगट कर डाला कि 'नेह के बजाय बाज छोड़ि सब लाज आज घूँघट उघारि ब्रजराज हेतु नाची मैं।'

जैसे उनकी अंतर्वृत्ति शृंगार में रमी थी, वैसे ही प्रत्युत उससे भी अधिक वह राष्ट्र में रमी थी। भारत के प्रति उनमें अनन्य प्रेम था और वे देश में वैसा ही स्वर्णयुग देखना चाहते थे जैसा इस महादेश के अतीत में कभी था। वे जनता के हृदय में उत्साह और प्रफुल्लता का अबाध गति से बहता स्रोत देखना चाहते थे और उसी से प्रभावित होकर उन्होंने विजयिनी विजयवैजयंती, भारतवीरत्व, भारत-भिक्षा आदि रचनाएँ समय समय पर प्रस्तुत की थीं। वे नए जमाने से

बहुत प्रभावित थे और हिंदी को भी नवीनता के ग्रहण का मार्ग बता गए हैं। नए जमाने की मुकरी आदि ऐसी सी कृतियाँ हैं। हिंदी के प्रति उनका कितना अनुराग था इसका पता उनके 'उर्दू का स्यापा' और हिंदी की उन्नति पर दिए गए व्याख्यानों से भली भाँति चल जाता है।

उनकी भाषा बहुत ही चलती और सशक्त थी। ब्रजभाषा का निखरा हुआ रूप उनकी रचना में मिलता है। कोमलता और मधुरता उससे चूई पड़ती है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—'भारतेंदु हिंदी के ऐसे स्तंभ थे जिसपर आज का सारा साहित्य खड़ा है' —इसे सिद्ध कीजिए।

२—'भारतेंदुजी ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी' उदाहरण देकर इसे स्पष्ट कीजिए।

३—भारतेंदु के भाव-चिंतन पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

४—भारतेंदु की रचना में आए हुए सभी मुहावरों और लोकोक्तियों का संग्रह कीजिए तथा उनका तात्पर्य भी बतलाइए।

५—'भारतेंदुजी स्वच्छंद प्रकृति के कवि थे'—इसका प्रतिपादन कीजिए।

६—भारतेंदु की कविता से ब्रजभाषा के ठेठ प्रयोगों का दिग्दर्शन कराइए।

राजा लक्ष्मण सिंह

राजा लक्ष्मण सिंह का जन्म सं० १८८३ में आगरे में हुआ था। बचपन से ही आप कुशाग्र बुद्धि थे। आप छुटपन से ही कई भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। राजा साहब हिंदी और संस्कृत के सुयोग्य विद्वान् थे। कालिदास कृत अभिज्ञान शाकुंतल, मेघदूत और रघुवंश का हिंदी-अनुवाद आपने बहुत ही अच्छा प्रस्तुत किया। उस समय तक पद्य ब्रजभाषा में ही चला आ रहा था और उसमें बहुत ही उत्कृष्ट रचना हो रही थी। इसलिए भारतेंदुकाल और उसके पहले के सभी लेखकों ने संस्कृत पद्य का अनुवाद गद्य की भाँति खड़ी बोली में न करके ब्रजभाषा-पद्य में ही किया है।

भारतेंदु-काल का सबसे बड़ा प्रयत्न हिंदी-साहित्य को समृद्ध बनाने में देखा जाता है। हिंदी में जिन जिन प्रकारों की रचनाओं का अभाव अनुभूत होता था उनकी पूर्ति तत्कालीन विद्वान् दूसरी भाषाओं के अनुवाद से करते थे, ऐसा वे सच्चे हृदय और पूरी लगन से करते थे। मेघदूत आदि का अनुवाद प्रस्तुत करते हुए यह ध्यान बराबर रखा गया है कि यह हिंदी का होकर रहे। मूल के अर्थोद्घटन में जो कमी जान पड़ी उसे हिंदी में दूर किया गया। यही कारण है कि उस समय के अनुवाद स्वच्छंद हुए हैं। अनुवाद में मूल का कथा-प्रवाह बना रहना बहुत बड़ी विशेषता मानी जाती है। इन कवियों ने इसका विचार बराबर रखा है।

ब्रजभाषा के क्षेत्र में राजा साहब ने अद्भुत प्रतिभा पाई थी। भाषा का उतार-चढ़ाव, उसकी कोमलता-कठिनता आदि से वे भली भाँति परिचित थे। कालिदास कृत मेघदूत से एक श्लोक के अनुवाद की बानगी लीजिए—

नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां नवजलकणैर्दोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशा जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥

वहँ पौन के पेरे कितेकहु बादर तो उनहार के आवत हैं।
जल-बूँदन की बरषा करिके अँगनान के चित्र मिटावत हैं।
भयभीत से फेरि झरोखन ह्वै सिमिटे तन बाहर आवत हैं।
कढ़ि जान को बेगि धुआँ बनि के बड़े चातुर वेहू कहावत हैं ॥

शब्द-निर्माण की क्षमता भी उनमें अद्भुत थी। 'अभ्रचटा' 'अभ्रंलिह' के लिए इनका गढ़ा हुआ शब्द है किंतु अपने स्थान पर बहुत ही उपयुक्त है। 'रतीश' का 'रतेश' भी इन्होंने बना लिया है जो किन्नरेश और महेश की तुक पर बैठ गया है। अनुवाद में इन्होंने मूल की संस्कृत-शब्दावली का अनुसरण न करके शुद्ध ब्रजभाषा ही प्रयुक्त की है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—अलकापुरी का वर्णन कीजिए।

२—मेघदूत की वर्णन-प्रणाली का दिग्दर्शन कराइए।
३—राजा साहब के अनुवाद में मौलिकता कहाँ तक है ?
४—मेघदूत की रमणीयता का विवेचन कीजिए।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म संवत् १९२५ में मार्गशीर्ष कृष्ण त्रयोदशी को जबलपुर में हुआ था। वहीं उनकी शिक्षा भी हुई थी और बी० ए०, एल० एल० बी० पास कर कुछ दिनों वहीं वकालत भी की थी। किंतु बाद में वे अपने घर कानपुर में ही आकर रहने लगे थे। हिंदी के तो आप श्रेष्ठ विद्वान् ही थे। संस्कृत में भी आपकी अच्छी गति थी। चंद्रकला-भानुकुमार नाटक और धाराधर-धावन (मेघदूत का हिंदी अनुवाद) आपकी विशिष्ट रचनाएँ हैं।

पूर्णजी में हिंदी की उन्नति का विशेष हौसला था। उनकी यह मनोकामना थी कि जिस प्रकार संस्कृत में शास्त्रीय विवेचन का खूब विस्तार है और एक से एक अनूठे ग्रथ रचे गए हैं उसी प्रकार हिंदी में भी ग्रंथों का निर्माण हो। हिंदी का साहित्य भी उतना ही समर्थ हो जितना संस्कृत का है। अपने अनुवाद 'धाराधर-धावन' को भी आपने इस ढंग से रचा है कि वह संस्कृत के कालिदास कृत मूल मेघदूत से भावव्यंजनादि काव्य के विविध गुणों की तुलना में किसी प्रकार कम न ठहर सके। पद्य के साथ साथ गद्य में वे संस्कृत के श्लोकों की व्याख्या भी करते गए हैं और स्थान स्थान पर यह भी निर्दिष्ट करते गए हैं कि हिंदी अनुवाद में संस्कृत से यह विशेषता रखी गई है जो उनकी उपर्युक्त मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचायक है।

राजा लक्ष्मण सिंह की अपेक्षा पूर्णजी संस्कृत से अधिक प्रभावित हैं। इसका प्रमाण इनकी रचना में प्रयुक्त शब्दावली से भली भाँति मिल सकता है। संस्कृत के तत्सम शब्दों और उसकी समास-प्रणाली का अधिक प्रयोग संस्कृत के प्रभाव से ही है। जहाँ तक हो सका है इन्होंने शब्दों का शुद्ध संस्कृत रूप ही रखने का प्रयत्न किया है।

भाषा साहित्य की उन्नति के लिए इन्होंने कई पत्र निकाले थे। 'रसिक-वाटिका' और 'धर्म-कुसुमाकर' मासिक पत्रिका और पत्र के रूप में क्रमशः साहित्य और धर्म की अभिवृद्धि के लिए बहुत दिनों तक निकालते रहे। इनकी मृत्यु सवत् १९७२ में हुई थी। 'धाराधर-धावन' के अतिरिक्त इनकी रचनाओं का संकलन 'पूर्ण-संग्रह' के नाम से निकल चुका है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—राजा लक्ष्मण सिंह और राय देवीप्रसाद पूर्ण की रचनाओं की तुलना कीजिए।

२—धाराधर-धावन में वर्णित मेघ के प्रति यक्ष के सदेश-कथन का सौंदर्य दिखलाइए।

३—धाराधर-धावन के आधार पर यक्ष के विरह का विवेचन कीजिए।

४—यक्ष ने अपनी यक्षिणी के कैसे रूप की कल्पना की है?

५—यक्ष ने मेघ को ही दूत क्यों बनाया?

पं० सत्यनारायणकविरत्न

पं० सत्यनारायण कविरत्न का नाम सुनते ही, जिसने एक बार भी इन्हें कविता पढ़ते सुना है या इनसे जिसको कभी मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अकचका उठता है। आँखों के सामने इनकी मूर्ति खड़ी हो जाती है। जिस मधुर स्वर से ये कविता सुना गए, सुननेवालों के कानों में वह आज भी गूँज रहा है। पं० मदनमोहन मालवीय और स्वामी रामतीर्थ ऐसे महापुरुष भी इनका कविता-पाठ सुनकर गद्गद् होते रहे हैं। लोग इन्हें व्रज-कोकिल कहकर पुकारते थे। सौम्यत्व के तो ये साक्षात् अवतार ही प्रतीत होते थे। सीधे और मिठबोले ऐसे थे कि संसार में किसी का भी हृदय इनसे नहीं दुखा। बड़ी से बड़ी हानि उठाकर ये किसी की बात खाली न जाने देते। इनकी यही सरलता और सीधापन इनके जीवन का कंटक हुआ। जब तक जिए तब तक कष्ट पाते रहे। फिर भी इन्होंने कष्ट को कभी कष्ट नहीं माना। इनका वैवाहिक जीवन घोर

अशांतिपूर्ण रहा। आचार्य शुक्लजी ने इनकी जीवनी का चित्र इन थोड़े से शब्दों में बहुत ही अच्छा खींचा है—

'इनका जन्म और बाल्यकाल, विवाह और गार्हस्थ्य, सब एक दुःखभरी कहानी के संबद्ध खंड थे। वे थे व्रजमाधुरी में पगे जीव, उनकी पत्नी थीं आर्य-समाज के तीखेपन में तली महिला। इस विषमता की विरसता बढ़ती ही गई और थोड़ी ही अवस्था में कविरत्न जी की जीवन-यात्रा समाप्त हो गई'। (हिंदी साहित्य का इतिहास)।

कविरत्नजी का जन्म संवत् १९३६ में हुआ था। उत्तर-रामचरित और मालती माधव नाटक के इनके अनुवाद बहुत प्रसिद्ध हैं। इनकी मौलिक रचनाएँ भी पद्य में बहुत सी हैं जिनमें से 'भ्रमर-दूत' और 'प्रेमकली' बड़ी रचनाएँ हैं। हिंदी में वियोग और निर्गुण-सगुण के वाद-विवाद के वर्णन के लिए कृष्ण-भक्त कवियों के बीच भ्रमरगीत के नाम से एक विशेष पद्धति चली आती है। कविरत्नजी ने भ्रमरदूत में गीत की पद्धति तो वही रखी पर उन्होंने समय के साथ भ्रमरगीत की परिपाटी में बहुत सा परिवर्तन किया। पहली बात तो यह कि उनका भ्रमर कृष्ण का संदेश-वाहक नहीं है अपितु व्रजवासियों का है। उनका प्रधान लक्ष्य भ्रमर को दूत बनाकर कृष्ण के पास भेजना है, कृष्ण के किसी संदेश का प्रत्युत्तर देना नहीं। इसी से इस रचना का नाम 'भ्रमरगीत' न रखकर 'भ्रमरदूत' ही रखा गया है। दूसरी बात यह है कि उनका 'भ्रमरदूत' सूरदास आदि की भाँति दांपत्य वियोग-शृंगार से प्लावित नहीं, उसमें शुद्ध वात्सल्य-वियोग की व्यंजना है। तीसरी और प्रमुख विशेषता उनके 'भ्रमरदूत' की यह है कि प्रचलित परिपाटी के अनुसार उसमें सगुण और निर्गुण के दार्शनिक विवाद के स्थान पर प्राचीन और नवीन भारत के समाज की तुलना की गई है, जो व्रजभाषा में एकदम नई बात है। विचारों और भावों का ऐसा सामयिक परिवर्तन ही किसी भाषा को जीवित रख सकता है और यह भी निर्विवाद है कि कविरत्न जी की गणना व्रजभाषा के स्वच्छंदतावादी कवियों में ही की जा सकती है। उन्हें काव्य को रीति की शृंखला में बाँधकर ले चलना पसंद ही नहीं था। वे भाव के उपासक थे और उनके काव्य में उसी को छटा दिखाई पड़ती है। उनमें

प्राचीन परिपाटी के अंधानुकरण की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं थी। क्या वस्तुवर्णन, क्या भावव्यंजना सब नैसर्गिक और बहुत ही सरस हैं। भ्रमरदूत की कथा तो नवीन है ही, उनका प्रकृति-वर्णन भी अन्य व्रजभाषावाले कवियों की भाँति शास्त्र में गिनाए वृक्षों की नामावली मात्र प्रस्तुत करनेवाला नहीं है बल्कि उनका संमिश्रित चित्रण करता है जिसमें उनके रूप का स्पष्ट बोध हो सके। वर्षा से धुले पत्तों की स्निग्धता और हरियाली से वे विशेष प्रभावित थे। उनमें सच्ची भावुकता थी जो काव्य का प्राण मानी जाती है।

भ्रमर-दूत में यशोदा को भारतमाता के रूप में कल्पित किया गया है और देश में विदेशी सभ्यता के प्रसार से उत्पन्न होनेवाली बुराइयों और कुरीतियों को भारत की परंपरागत सुख, समृद्धि और संस्कृति के लिए घातक बताया गया है। स्त्री-शिक्षा ऐसी उपयोगी वस्तु भी इस विदेशी हवा के कारण विपरीत ही सिद्ध हो रही है। भ्रमरदूत में माता के हृदय की व्यंजना तो है ही किंतु उसके कृष्ण शृंगारी कृष्ण नहीं हैं। वे लोक के नायक हैं और उसे व्यवस्थित रखने मे समर्थ हैं। कृष्ण को व्रज में बुलाने का अपना स्वार्थ उतना नहीं है जितना लोक-कल्याण के लिए, बिगड़ी को बनाने के लिए उनकी आवश्यकता है। उनके भ्रमरदूत में गीता की ये पंक्तियाँ अलक्षित रूप से कार्य कर रही हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

भाषा के क्षेत्र में भी कविरत्नजी ने समय को देखते हुए बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की। व्रजभाषा के आधुनिक कवियों में खड़ी बोली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। वे संस्कृत से विशेष प्रभावित दिखाई देते हैं। किंतु कविरत्नजी उनसे बिल्कुल भिन्न हैं। उनकी रचना में न संस्कृत की समास-बहुल उलझन है न खड़ी बोली का सा खड़ापन, शुद्ध व्रजभाषा की स्वाभाविक मनोहरता है। सिदोसौ लौटियो, उठाये म्हौं फिरैं ऐसे प्रयोग कविरत्नजी ऐसे व्रजभाषा के प्रवीण कवि ही कर सकते हैं, जिनका उसी में जीना मरना है, उन्हें प्रांतीय या एकदेशीय कहकर टाला या उपेक्षित नहीं किया जा सकता। कोरे बने गँवार कोउ अगुआ नहीं, अपनी अपनी ढापुली, अपनो अपनो राग अलापैं जोर सों—ऐसे प्रयोग लोक-

व्यवहार के जानकार ही कर सकते हैं। कविरत्नजी में बोलचाल की व्रजभाषा की मिठास है।

भ्रमर-दूत का छंदोविधान अष्टछाप के नंददासजी के भ्रमरगीत का ही है। इसमें दस मात्राओं की टेक का विशेष महत्त्व है। कहीं तो उसमें पूरे छंद का निचोड़ रहता है और कहीं व्यंजना की परिपूर्णता के लिए कुछ संबोधन की पदावली जो पूरे छंद को विशेष प्रभावित करती है और उसकी रमणीयता द्विगुणित कर देती है।

कविरत्नजी व्रजभाषा को जिस स्वाभाविक पथ पर ले चल रहे थे निश्चय ही वह प्रशंसनीय था जो आगे चलकर भाषा के क्षेत्र में बहुत ही उपयोगी सिद्ध होता। किंतु दुर्भाग्य कि अकाल में ही संवत् १९७५ में हैजे से इनका शरीर-पात हो गया। पं० सत्यनारायण कविरत्न व्रजभाषा को जीवित और सामाजिक काव्य-भाषा बनाए रखने के दृढ़व्रती थे जैसा कि उनकी रचना से ही सिद्ध है (देखिए छंद ३२)।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—कविरत्नजी ने भ्रमरदूत में जिन जिन आधुनिक विषयों की ओर संकेत किया है उनको छाँटिए और उनका विस्तार से वर्णन कीजिए।

२—इनकी रचना में आए मुहावरों का चयन करिए।

३—भ्रमरदूत की तुलना अन्य भ्रमरगीतों से कीजिए और इसकी विशेषताएँ बताइए।

४—कविरत्नजी ने यत्र तत्र आधुनिक सभ्यता पर व्यंग्य किए हैं। उदाहरण देकर उन्हें स्पष्ट कीजिए।

५—'भ्रमरदूत' के आधार पर प्राचीन भारतीय सभ्यता और सुख समृद्धि का वर्णन कीजिए।

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर'

बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' आधुनिक युग में व्रजभाषा के चोटी के कवियों में से थे। इनका जन्म भादों सुदी ५ संवत् १९२३ को काशी में हुआ था। आरंभ

में अपने पिता बाबू पुरुषोत्तमदास की भाँति इन्हें उर्दू फारसी की शायरी का शौक था। किंतु आगे चलकर इनके विचार बदल गए और इन्होंने ब्रजभाषा को अपनाया। अपनी प्रखर प्रतिभा और प्रगाढ़ पांडित्य के बल पर इन्होंने इस क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया। यह अत्युक्ति न होगी कि आधुनिक काल में भारतेंदु के बाद ब्रजभाषा का इतना समर्थ कवि दूसरा नहीं हुआ। इनके छुटपन में भारतेंदु ने ही ऐसी घोषणा भी की थी। इनकी रचना में साहित्यिक ब्रजभाषा का निखरा हुआ रूप मिलता है।

रत्नाकरजी सहृदय तो थे ही, काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ भी थे। आपकी रचना में काव्य के हृदय और कला दोनों पक्ष समकोटि के हैं। आपकी रचना में भाव की गहराई भी है और अलंकारों की छटा भी। रस के सभी अवयव, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव इनकी रचना में पूर्ण और स्पष्ट रूप में मिलते हैं। इनकी भाषा चित्र-तत्त्व का काम करती चलती है। इनकी अभिव्यंजना-प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता है गतिशीलता। किसी भावाभिव्यक्ति के लिए आलंबन का कौन सा रूप उपयुक्त है, उसकी कौन सी चेष्टाएँ भावोद्दीपन में सहायक हैं, उन्हें ये बड़े कौशल से सामने करते थे। योजना ये ऐसे ढंग से करते थे कि ज्यों ज्यों वर्णन करते थे त्यों त्यों नवीनता का उद्घाटन होता चलता था और अंत तक पहुँचते पहुँचते रस अपने सर्वोत्तम स्वाद के साथ उपस्थित हो जाता था। इनकी रचना में नाद की गूँज बहुत देर तक टिकनेवाली मिलती है।

रत्नाकरजी प्रबंध और मुक्तक दोनों प्रकार की रचनाओं में पटु थे। इनका प्रबंध-काव्य 'गंगावतरण' ब्रजभाषा काव्य का अनमोल रत्न है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता कथा का प्रवाह और प्रत्येक भाव का चित्र उपस्थित कर देना है। इनके काव्य में शिथिलता ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। रत्नाकरजी की मुक्तक रचना भी प्रबंधवत् पुष्ट होती थी। इनका 'उद्धव शतक' मुक्तक छंदों का संग्रह ही है। इसे सूरदास, नंददास आदि के भ्रमरगीत की ही तरह समझना चाहिए। रत्नाकरजी ने इस संग्रह में उद्धव संबंधी छंदों को इस प्रकार क्रम-बद्ध सजाया है कि उनमें प्रवाह आ गया है। प्रस्तुत पाठ्य-पुस्तक में उद्धव के ब्रज से लौटने के बाद के छंद उद्धृत हैं।

रत्नाकरजी पर बिहारी, घनआनंद और पद्माकर की छाप स्पष्ट झलकती है। चेष्टाओं का इनका वर्णन बिहारी की ही भाँति सजीव है। भावों की गंभीरता घनआनंद की सी है और भाषा का सौष्ठव पद्माकर के ढंग का है। ये आधुनिक युग में भी प्राचीन हैं और प्राचीन होते हुए भी अद्यतन हैं। खड़ी बोली के धनी-धोरियों के समक्ष उपेक्षित व्रजभाषा का यह कवि आज भी डंके की चोट कह रहा है कि व्रजभाषा की मधुरता और सरसता से खड़ी बोली की समानता नहीं हो सकती। इनकी समस्त रचनाओं का बृहत् संग्रह 'रत्नाकर' नाम से प्रकाशित हुआ है।

रत्नाकरजी का अंतर्द्वंद्व की परिस्थिति का चित्रण अद्वितीय है। इनका अंतर्द्वंद्व वितर्कजन्य नहीं होता, प्रायः भावातिरेक या मनोवेग की बेबसी से उद्‌भूत होता है। उद्धव ने ब्रज में जो देखा, सुना और समझा—उसे कृष्ण को बताना चाहते हैं। किंतु वे कुछ कह नहीं पा रहे हैं। एक ओर तो कृष्ण शीघ्रातिशीघ्र सब कुछ जानना चाहते हैं दूसरी ओर उद्धव इतने भाव-भरित हैं कि उनके मुख से बोली ही नहीं निकल पाती। वे कहते हैं—

आतुर ह्वै औरहू न कातर बनावौ नाथ,
नैसुक निवारि पीर धीर धरि लेन देहु।
कहत अबै हैं कहि आवत जहाँ लौं सबै,
नैकु थिर कढ़त करेजौ करि लेन देहु॥

यह अंतर्द्वंद्व बहुत ही विलक्षण है। सुननेवाले की आतुरी और सुनानेवाले की भावुकता दो भिन्न व्यक्तियों में होने से यह बाह्य भी है और सुनानेवाले की इच्छा होते हुए भी न सुना सकने से आंतरिक भी। काव्य की जैसी रमणीयता इस प्रकार के चित्रण में होती है वैसी एक ही व्यक्ति में एक ही साथ दो परस्पर विरोधी भावों को रख देने में नहीं। रत्नाकरजी की यह निपुणता प्राचीन होते हुए भी नई है।

भाषा की दृष्टि से एक ओर तो वे ब्रजभाषा-काव्य की भारतीय परंपरा के प्रकांड पंडित और मर्मज्ञ थे, दूसरी ओर उर्दू और फारसी की विदेशी गतिविधि से भी पूर्णतया अभिज्ञ। उनकी भाषा में ब्रज-माधुरी की सरसता और

उर्दू का शब्द-चमत्कार दोनों साथ साथ हैं। उर्दू के चमत्कार का तात्पर्य शब्द-वक्रता की रमणीयता से है। उदाहरण लीजिए—

हरि-हरि जासौं बरि-बरि सब वारी उठैं
जानैं कौन बहति बयारि बरसाने मैं।

शब्दों को अर्थ पहनाने में रत्नाकरजी बहुत ही चतुर हैं। इनका सारा शब्द-चमत्कार प्रस्तुत भाव के उत्कर्ष में ही योग देता दिखाई देता है। उर्दू की शायरी में इसी की रमणीयता अधिक होती है। रत्नाकरजी ने जितने रूपक बाँधे हैं सबमें इसी का आधार है। लक्षणा और व्यंजना से युक्त मुहावरों का इसमें विशेष योग रहा करता है। मुहावरों में भावाभिव्यंजना की रमणीयता लोक-व्यवहार के कारण अत्यधिक होती है। जैसे—'होतौ चितचाव जौ न रावरे चितावन कौ तजि ब्रज-गावँ इतै पावँ धरते नहीं'। 'पाँव न धरने' में अरुचि की व्यंजना बहुत ही सुंदर बन पड़ी है। रूपक के सहारे रत्नाकरजी कैसी भाव-व्यंजना करते हैं, इसे छठे छंद से भली भाँति समझा जा सकता है। प्रेम और 'पुन्य पाथ' (गंगा) का बहुत ही मार्मिक सुयोग हुआ है। प्रेमाधिक्य के कारण गला भर आना, आँसू बहने लगना आदि अनुभावों को गंगा की बाढ़ के मेल में दिखाकर प्रेम का पूरा स्वरूप खड़ा किया गया है। इसे अतिशयोक्ति कहकर अलग नहीं कर सकते। यह भाव की सर्वोत्कृष्ट व्यंजना है।

रत्नाकरजी प्रबंध-काव्यों में रोला छंद का व्यवहार अच्छा समझते थे और मुक्तक में कवित्त-सवैयों का। 'उद्धवशतक' कवित्तों में ही लिखा गया है। ब्रजभाषा के कवित्त-सवैयों में प्रायः चतुर्थ चरण ही विशेष चमत्कारपूर्ण पाया जाता है। किंतु रत्नाकरजी के कवित्त-सवैयों के चारों चरण समकोटि के होते हैं। भावों की सरसता से इनका एक एक पद भरा होता है।

समष्टि में रत्नाकरजी की भाषा और भाव दोनों सिद्ध कविकर्म के रूप में होते हैं। प्रत्येक भाव अपने क्रम से आता चलता है। भाषा इतनी चुस्त होती है कि किसी भाव में कहीं से कमी नहीं आने पाती। इनकी काव्य-रचनाओं में गंगावतरण, हरिश्चंद्र, कलकाशी, उद्धवशतक, हिंडोला आदि मुख्य हैं।

कवि के अतिरिक्त रत्नाकरजी कुशल संपादक भी थे। बिहारी-सतसई का

संपादन करके रत्नाकरजी प्राचीन ग्रंथों के संपादन का आदर्श उपस्थित कर गए हैं। बिहारी की रचना का ऐसा सर्वांगपूर्ण और व्यवस्थित संपादन आज तक दूसरा प्रस्तुत नहीं हो सका है।

रत्नाकरजी अयोध्या-नरेश और उनकी महारानी के बहुत दिनों तक मंत्री रहे। शरीरांत के समय भी आप उसी पद पर आसीन रहे। आपका निधन संवत् १९८९ में हरिद्वार में हुआ था।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—'रत्नाकरजी शब्दों द्वारा ऐसा चित्र अंकित करते हैं कि उसकी छाप हम पर स्थिर हो जाती है। हम भावों का ही केवल अनुभव नहीं करते, पात्रों को अपने सामने खड़ा भी देखते हैं।'

उपर्युक्त उद्धरण को उदाहरण देकर भलीभाँति समझाइए।

२—अलंकारों की योजना में रत्नाकरजी कहाँ तक सफल हुए हैं उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

३—'रत्नाकर जी की भाषा उनके भावों की अनुवर्तिनी थी' इस कथन का उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

पं० रामप्रसाद त्रिपाठी

डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी इतिहास के प्राध्यापक होते हुए भी व्रजभाषा कविता के मर्मज्ञ और समर्थ रचयिता हैं। इनके काव्य में शब्दों की रोचक क्रीड़ा भाव का चमत्कार दिखाने में बहुत सफल हुई है। यमक और श्लेष की बहार तो आद्यंत है। जहाँ इनके काव्य में भाषा का ऐसा पुरानापन है वहाँ इनकी भाव-धारा एकदम नई है। व्रजभाषा के अन्य कवियों की भाँति इनके आलंबन कृष्ण ही हैं। किंतु इनके कृष्ण उन कवियों की भाँति शृंगार की भावना जगानेवाले नहीं। इनमें रहस्य-संकेत भी बीच बीच में मिलते हैं। इन्होंने कृष्ण को आधुनिक धारणा के अनुकूल ही ग्रहण किया है। इन्होंने कृष्ण को

परब्रह्म मानते हुए निष्काम कर्म से ही उनकी प्राप्ति संभव बताई है जिसका प्रतिपालन गीता में किया गया है (देखिए छंद ३)। त्रिपाठीजी का यह प्रयोग निश्चय ही स्तुत्य और काव्य के लिए बहुत ही उपयुक्त है। खड़ी बोली के रहस्यवादी कवियों में सबसे बड़ी कमी आलंबन के रूप-विधान की है जिससे भाव की सच्ची अनुभूति नहीं होती। उसी परब्रह्म को कृष्ण के रूप में प्रतिष्ठित करके लोकविश्रुत कथा के नियोजन से भावना को युक्तिसंमत और सरस काव्यत्व प्रदान किया गया है।

त्रिपाठीजी संस्कृत, फारसी और उर्दू के भी अच्छे विद्वान् हैं। किंतु इनकी व्रजभाषा अपने शुद्ध रूप में ही विकसित हुई है। उसमें किसी दूसरी भाषा का घालमेल नहीं। इसमें अपनी स्वाभाविक मधुरता और प्रवाह है। मुहावरों की योजना भी इसमें बहुत ही सरस और साभिप्राय है। इनमें भाषा की रमणीयता विलक्षण है जिसमें विभिन्न अलंकारों की मनोहर छटा भी दृष्टिगोचर होती है।

आरंभ से ही ये इतिहास के अध्ययन में लगे, किंतु इनकी साहित्यिक अभिरुचि कभी मंद नहीं पड़ी। इन्होंने इतिहास के कई प्रामाणिक ग्रंथ तो रचे ही, काव्य का भी एक ग्रंथ रचा जो इनकी कवित्वशक्ति का मूर्तिमान रूप है। इस ग्रंथ में इनके फुटकर छंदों का संग्रह है और वह 'मुक्तकमाला' के नाम से विख्यात है। संवत् १९७३ से आप प्रयाग विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं। संवत् १९८३ में आपको इंगलैंड से डी० एस० सी० की उपाधि भी मिल चुकी है और इस समय ये प्रयाग विश्वविद्यालय में इतिहास-विभाग के अध्यक्ष-पद को सुशोभित कर रहे हैं।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—त्रिपाठीजी के कृष्ण प्राचीन और नवीन दोनों हैं—इस कथन की सत्यता प्रमाणित कीजिए।

२—व्रजभाषा के कृष्ण-भक्त कवियों के कृष्ण से इनके कृष्ण में क्या अंतर है ?

३—भाषा और भाव की दृष्टि से त्रिपाठीजी किस कोटि के कवि माने जा सकते है।

४ भावाभिव्यंजन में इनकी भाषा कहाँ तक सफल हुई है—उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।

५ पुरानी व्रजभाषा और इनकी व्रजभाषा में क्या साम्य और वैषम्य है।

पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'

'रसाल' जी अलंकारशास्त्र के अभ्यासी हैं जिसका इनकी कविता पर प्रत्यक्ष प्रभाव है। इनके काव्य में शब्द-चमत्कार की अपूर्व छटा है। उद्धव-गोपी-संवाद में निर्गुण का खंडन बहुत ही विनोदपूर्ण ढंग से किया गया है। विनोद में वक्रोक्ति का चमत्कार अवश्य रमणीय होता है। जब उसे तर्क का सहयोग प्राप्त हो जाता है तब वह और भी निखर उठता है। 'रसाल' जी की कविता में दोनों बातें पर्याप्त मात्रा में मिलती हैं। तर्कों की इनकी रमणीय योजना का एक उदाहरण देखिए—

'ब्रह्म सबै जो पै तौ 'रसाल' भेद-भाव कैसो,
कैसे हमें गोपी लखौ ऊधौ आपु आपु कौ।

'रसाल' जी की भाषा में अर्थगांभीर्य का गुरुत्व, बंधान की रमणीयता और कथन का चमत्कार है। इनमें भाषा का नैसर्गिक प्रवाह और कलागत माधुरी है।

'रसाल' जी व्रजभाषा के मर्मज्ञ हैं। काव्य-शास्त्र के पंडित होते हुए भी इन्होंने व्रजभाषा में बहुत सरस और प्रभावशाली रचना की है। 'रसाल-मंजरी' नाम का इनका एक अप्रकाशित काव्य-ग्रंथ है जिसमें अनेकानेक विषयों के मर्मस्पर्शी छंद संगृहीत हैं। गद्य में इनके कई शास्त्रीय ग्रंथ प्रकाशित हो गए हैं जैसे—आलोचनादर्श, नाटक-निर्णय, भाषा-शब्द-कोश, रचना-विकास, हिंदी-साहित्य का इतिहास।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—डाक्टर रामप्रसाद त्रिपाठी और 'रसाल' जी की रचना-प्रणालियों की तुलना कीजिए।

२ 'उद्धव-गोपी-संवाद' में कवि ने क्या विशेषता प्रदर्शित की है।

क्योंकर सुखी और प्रभावशाली रह सकता है। प्रकृति से भागने की यह मनोवृत्ति जीवन में ही नहीं काव्य के क्षेत्र में भी घुस रही है। कवि लोग वादों की आड़ में स्वाँग भरे जा रहे हैं। उनमें सच्ची अनुभूति की कमी हो रही है (देखिए छंदसंख्या ३)। सहृदयता की यह कमी सर्वत्र ह्रास की सृष्टि कर रही है जो काव्य के लिए चिंता का विषय है।

शुक्लजी खड़ी बोली के ही कवि नहीं थे, व्रजभाषा के भी कृती थे। व्रजभाषा में इनका 'बुद्धचरित' प्रबंध-काव्य आधुनिक युग की अनुपम कृति है। शुक्लजी भाषा और भाव दोनों में परिष्कार के पक्षपाती थे। व्रजभाषा की रचना में भी संस्कृत शब्दों को शुद्ध रूप में ही रखना पसंद करते थे जिससे व्रज और खड़ी का पार्थक्य कम दिखाई दे। भाषा के इस प्रकार के परिष्कार और परिमार्जन का आभास भारतेंदु-युग से ही मिलता है। किंतु इन तक पहुँचते पहुँचते उसमें पर्याप्त विकास हो चुका था।

शुक्लजी साहित्य के उन निर्माताओं में से थे जिन्होंने युग-प्रवर्तन किया है। भारतेंदु ने यदि साहित्य की विभिन्न शाखाओं के संवर्धन का मार्ग प्रशस्त किया और पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा के संस्कार का, तो शुक्लजी ने उसके समझने और उच्चतम स्तर पर पहुँचने का द्वार खोला। इन्होंने साहित्य को ऐसे लोचन दिए जिनसे वह सबको भलीभाँति देख सके; उनके वास्तविक रूप को पहचान सके। इनकी सूर, तुलसी और जायसी की विस्तृत आलोचनाएँ काव्य में रहस्यवाद की विद्वत्तापूर्ण समीक्षा, विभिन्न आलोचनात्मक निबंध और हिंदी साहित्य का इतिहास देखकर कोई यह भलीभाँति समझ सकता है कि हिंदी में क्या और कैसा कुछ है। रस-सिद्धांत पर इनकी एक पुस्तक 'रस-मीमांसा' नाम की है जिसमें भारतीय काव्य-शास्त्र का आधुनिक जिज्ञासा की शांति के रूप में सर्वोत्तम विवेचन है।

इनका जन्म संवत् १९४१ की शारदीय पूर्णिमा को अगोना ग्राम में हुआ था। आठ वर्ष की अवस्था में ये अपने पिता पं० चंद्रबली शुक्ल के साथ मिर्जापुर में आकर रहने लगे। संवत् १९५८ में इन्होंने इंट्रेंस की परीक्षा पास की थी। संवत् १९६५ में ये मिर्जापुर के मिशन स्कूल में ड्राइंग-मास्टर हो

गए। संवत् १९६६-६७ में ये काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के हिंदी-शब्दसागर का संपादन करने आए। तब से ये काशी में ही जम गए। कोश का कार्य समाप्त हो जाने पर ये काशी हिंदू विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक नियुक्त हुए और संवत् १९९४ में हिंदी विभाग के अध्यक्ष बनाए गए। इन्हें तमक-श्वास का कष्टद रोग था। संवत् १९९७ माघ शुक्ल षष्ठी को इसी रोग से इनका काशी में देहावसान हो गया।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—शुक्लजी ने प्रकृति का विस्तार कहाँ तक किया है?

२—काव्य के क्षेत्र में शुक्लजी के प्रकृति संबंधी क्या सिद्धांत हैं?

३—'हृदय का मधुर भार' से क्या तात्पर्य है?

४—उदाहरण देकर शुक्लजी की व्यंजना-शैली का विवेचन कीजिए।

५—'हृदय का मधुर भार' में कौन सा रस है।

३—सगुण-निर्गुण के पक्ष-विपक्ष में तर्क-पुष्ट और भाव भावित पद्धतियों में से कौन सी काव्य के विशेष अनुकूल पड़ती है और क्यों।

४—'रसाल' जी में शब्दगत वक्रोक्ति का ही चमत्कार है या अर्थगत वक्रोक्ति का भी—इसका विचार कीजिए। (वक्रोक्ति अलंकार से यहाँ तात्पर्य नहीं है)।

श्री हरदयालु सिंह

वर्तमान समय में ये व्रजभाषा में सफल प्रबन्धकार माने जाते हैं। व्रजभाषा संस्कृत के अनुवाद इन्होंने भी प्रस्तुत किए हैं, जिनमें बड़ी ही कुशलता के थ बहुत ही प्राकृतिक और सीधे-सादे रूप में, प्रवाहपूर्ण भाषा में भाव लाए ए हैं। अनुवाद बहुत साफ हुए हैं और कथा-प्रवाह कहीं विच्छिन्न नहीं हुआ यहाँ तक कि वर्णनों में भी उसकी रमणीयता बनी हुई है।

काव्य में कथा-निर्माण का बहुत महत्त्व होता है। महाकवि कालिदास में गुण भरपूर था। वर्णनों को भी वे इस ढंग से रखते थे कि वे कथा के अंग बन जाते थे। वन में गाय चराते हुए दिलीप के वर्णन में एक ओर तो वे ाजा दिलीप के उदार हृदय का चित्रण करते जाते हैं दूसरी ओर वन का भी। ोनों वर्णन ऐसे घुले-मिले हैं कि अलग किए ही नहीं जा सकते। कालिदास ा दिलीप का ऐसा वर्णन किया है मानों मानव हृदय प्रकृति की पुण्य भूमि में यात्रा करने निकला हो और मंदिर मंदिर पर पहुँचकर उसके भाव-प्रसून बिखरे पड़ते हों। अयोध्या की हीन दशा के चित्रण में भी कथा का सौंदर्य उत्पन्न करने के लिए ही अयोध्या के अधिदेवता की कल्पना एक सुंदरी के रूप में की गई है जो स्वप्न में कुश से अयोध्या की दशा का वर्णन करती है।

अनुवाद में भाव पर ही दृष्टि रखी जाती है भाषा और रचना-प्रणाली की अनुकृति पर नहीं। हरदयालु सिंहजी ने अपने अनुवादों में ऐसा ही किया है। इनके अनुवाद की भाषा में न तो शब्दों की क्लिष्टता है और न रचना की वक्रता। भाव का सौंदर्य आद्यंत है और कथा प्रवाह कहीं से अवरुद्ध नहीं है।

इन्होंने 'दैत्यवंश' नामक एक महाकाव्य भी व्रजभाषा में लिखा है।

अध्ययन के लिए सहायक प्रश्न

१—'गोचारण' पर एक निबंध लिखिए जिसमें इस प्राचीन परंपरा का ऐतिहासिक विवेचन हो।

२—'अयोध्या नगरी' की अवस्था का वर्णन कीजिए और उस वर्णन के सौष्ठव की विवेचना कीजिए।

३—पद्यानुवाद के गुण क्या होते हैं। उनकी दृष्टि से प्रस्तुत अनुवाद की आलोचना कीजिए।

४—सर्वश्री राजा लक्ष्मण सिंह, राय देवीप्रसाद पूर्ण, महावीरप्रसाद द्विवेदी के कालिदास कृत ग्रंथों के अनुवाद से श्री हरदयालु सिंह के अनुवाद की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।

पं० रामचंद्र शुक्ल

आचार्य रामचंद्र शुक्ल केवल आलोचक ही नहीं थे, कवि भी थे। इनका हृदय महर्षि वाल्मीकि सा विशाल और उदार था। ये प्रकृति के अनन्य उपासक थे। रीति-शास्त्रों के प्रभाव से काव्य में प्रकृति-वर्णन केवल शृंगार के उद्दीपन के संकुचित रूप में रह गया था। इन्होंने अपनी विशद आलोचनाएँ प्रस्तुत कर मुख्यत: 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य' शीर्षक निबंध लिखकर यह सिद्ध कर दिया कि आलंबन के रूप में भी प्रकृति का ग्रहण किया जा सकता है और संस्कृत के पुराने कवि वाल्मीकि, कालिदास आदि ने उसका इस रूप में ग्रहण भी किया है। किंतु हिंदी की धारा उन महान् प्रकृतिप्रेमी विभूतियों का अनुसरण न कर रीतिबद्ध कवियों के मार्ग पर बही, जिससे हिंदी में कुछ भक्त कवियों को छोड़कर इसका वर्णन केवल उद्दीपन के अंतर्गत और वह भी शास्त्रानुगमन के निमित्त ही कुछ छँटे-छँटाए वृक्षों, उद्यानों के नाम-कथन या वर्णन तक ही परिमित रह गया है। शुक्लजी के अनुसार प्रकृति में हृदय को प्रभावित करनेवाली रमणीयता है और वह रमणीयता उसी कोटि की है जिस कोटि की शृंगारादि रसों की। उसी

कृति में आम भी फलता है और नीम भी। प्रकृति किसी से भेद-भाव नहीं रखती। ब स्वच्छंद रूप से विकसित होते रहते हैं। वे प्रकृति की यही उदारता मनुष्य-दय में भी देखना चाहते हैं। निदाघ की जलती दुपहरी में जैसे मनुष्य ो किसी वृक्ष की शीतल छाया के उपभोग के लिए प्रकृति नहीं रोकती वैसे ी दीन कुत्ते को भी। किंतु मनुष्य उस कुत्ते को वहाँ से भगाना चाहता है, केवल अपनी शक्ति के बल पर। यही मनुष्यता का अत्याचार है, हृदय की संकीर्णता है। 'हृदय का मधुर भार' में शुक्लजी की यही भावना मूर्तिमती हुई है। इनका विशाल हृदय एक एक पत्ते में, एक एक जीव में, एक एक कण में रमा है। इनके हृदय में, न पीले-हरे पत्ते का भेद-भाव है और न किसी के प्रति राग-द्वेष। ये सबको समान दृष्टि से देखते हैं जो सहृदयता की मुख्य पहचान है। भाव का ऐसा उच्च स्तर क्वचित् ही दृष्टिगत होता है। 'हृदय का मधुर भार' को छोटा सा काव्य-निबंध ही समझना चाहिए जो दैव दुर्विपाक से अपूर्ण ही रह गया है। शुक्लजी जिन दिनों मिर्जापुर में रहा करते थे उन दिनों इनकी मित्र-मंडली गाँवों और पर्वतीय प्रदेशों में घूमने जाया करती थी। वहाँ प्रकृति के उस विस्तृत क्षेत्र में जब ये नगर की नाना चिंताओं से मुक्त होकर चारों ओर व्याप्त शांति का अनुभव करते थे तब इनका हृदय उस विशाल प्रकृति से तादात्म्य का अनुभव करने लगता था। 'हृदय का मधुर भार' में उन्हीं आनंददायी दिनों का संस्मरण है जो दंडकों में बँधकर काव्य रूप में व्यक्त हुआ है। यह तीन झलकों तक उपलब्ध है जिसमें तीसरी झलक के आरंभ का ही कुछ अंश मिलता है।

'हृदय का मधुर भार' प्रकृति का जीता जागता चित्र है। जो जैसा और जिस रूप, स्थान आदि में है वह वैसा ही दिखाया गया है। इसे पुरानी परिपाटी पर चाहे स्वभावोक्ति कहिए चाहे और कुछ। यह हृदय की मार्मिक अनुभूति का उत्स है। अतीत के वे मधुर क्षण जीवन के इस विस्तार में कितने मनोहर लगते हैं, इस नाना विपदापन्न संसार में उनकी स्मृति आज भी उन्हें फिर से पाने को लालायित कर रही है। हृदय उन्हीं क्षणों के अनुभव के मधुर भार से दबा जा रहा है। कवि कहता है—

लिपटा था मधुलेप कहाँ का ऐसा अमिट अपार,
उन रूपों में चिपका जिनकी छाया तक का तार !
संचित है जिन रूपों की यह छाया जीवन-सार,
उनके कुछ अवशेष मिलेंगे बाहर फिर दो-चार,
आशा पर बस इसी सहे जाता हूँ हे संसार !
तेरे इन रूखे रूपों के कड़वेपन की झार ॥

इस रचना में मुख्य रूप से दो बातों का वर्णन है—(१) प्रकृति का यथा-तथ्य चित्रण तथा (२) आधुनिक युग की मनोभावना। शुक्लजी बहुत बड़े आलोचक थे, उनमें किसी शब्द की व्याप्ति की बहुत ही गहरी पहचान थी; 'हृदय का मधुर भार' भी इससे अछूता नहीं रह पाया है। इन्होंने प्रकृति को बहुत विस्तृत रूप में देखा है। केवल पशु-पक्षियों, लता-द्रुमों, खेत-खलिहानों तक ही वह परिमित नहीं है, मनुष्य में भी उसके दर्शन होते हैं। ये स्वभाव को ही प्रकृति मानते हैं चाहे वह किसी का भी हो। जहाँ कोई स्वभाव या प्रकृति का परित्याग कर विरुद्ध आचरण में संलग्न हुआ वहाँ वह प्रकृति से दूर हटा। किसी सनकी वृद्ध को चिढ़ाना बालकों का स्वभाव है, लड़कों के इस आचरण को देखकर एक ओर मुदित होना और दूसरी ओर मर्यादा के विचार से उन्हें मना करना स्त्रियों और कुमारियों का स्वभाव है—प्रकृति-वर्णन के अंतर्गत ये भी आते हैं। हृदय की रमणीयता इन वर्णनों में भी है। शुक्लजी ने जहाँ इस बिंबरूप में बाह्य प्रकृति के प्रशस्त क्षेत्र को निहारा-देखा है वहाँ मनुष्य की उस अंतःप्रकृति को भी प्रतिबिंब रूप में समझा-बूझा है जिसके वशीभूत होकर मनुष्य तरह तरह के कार्य किया करता है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में मनुष्य स्वभाव—'सहज भाव'—को मारता जा रहा है। उसमें नाना प्रकार की कृत्रिमताएँ आ रही हैं जिससे जीवन में वैषम्य बढ़ता जा रहा है। वह अब स्वार्थ से सब पर अपना ही अधिकार किया चाहता है। वह अपना हृदय कुचल रहा है और वास्तविक प्रकृति से दूर पड़ रहा है। शुक्लजी ने इस कविता में इसी का विरोध किया है। लोक में वास्तविकता या सत्यता का ही प्राधान्य है और जब मनुष्य उससे भागता जा रहा है तब वह